अज्ञेय के साहित्य में मनुष्य की नियति

अज्ञेय के साहित्य में मनुष्य की नियति

रामकमल राय

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला 171005

प्रथम संस्करण 2014

सर्वाधिकार सुरक्षित
© भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला

ISBN 978-93-82396-15-4

प्रकाशकः
सचिव
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान,
राष्ट्रपति निवास, शिमला

टाइप्सेटः साई ग्राफिक डिज़ाइन, नई दिल्ली
मुद्रकः पर्ल ऑफसेट प्रा. लि., कीर्ति नगर, नई दिल्ली

विद्वान, मनीषी और सर्जक

प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय

को सादर समर्पित

कोई अपना नहीं कि केवल सब अपने हैं।

–अज्ञेय

अनुक्रमणिका

पृष्ठभूमि ix

1. अज्ञेय की मूल्यानुभूति 1–9
2. मानवीय संवेदना और काव्य : अज्ञेय की काव्य-भूमि 10–20
3. अज्ञेय के काव्य में अहं का विकास 21–32
4. अज्ञेय का व्यष्टि-बोध 33–46
5. अज्ञेय की प्रणयानुभूति 47–68
6. अज्ञेय की सौंदर्य-चेतना 69–84
7. अज्ञेय का स्वाधीनता बोध 85–93
8. अज्ञेय की लोकोत्तर चेतना 94–104
9. अज्ञेय संस्कृति-चेतना 105–111

अज्ञेय के उपन्यास और मनुष्य की नियति

10. शेखर : एक जीवनी - व्यक्ति और युग का संश्लेष 115–123
11. नदी के द्वीप : प्रणय की संस्कृति 124–133
12. अपने-अपने अजनबी : मृत्यु के अनुभव से जीवन का साक्षात्कार 134–141
13. अज्ञेय की कहानियाँ : मनुष्य में आस्था की खोज 142–148

परिशिष्ट

1. असाध्य वीणाः सृजन का रहस्य 151–161
2. अज्ञेय द्वारा रचा गया साहित्य 162–165
3. अज्ञेय पर लिखा साहित्य 166

पृष्ठभूमि

अज्ञेय के साहित्य को पढ़ने का सिलसिला लम्बा रहा। छात्र जीवन में जब इण्टरमीडिएट कक्षाओं में पढ़ता था, तभी उनका उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' पढ़ने को मिला। यूँ तो मैं विज्ञान का छात्र रहा। भौतिकी, रसायन और गणित मेरे विषय थे, परन्तु साहित्य पढ़ने का चाव गहरा था। 'शेखर : एक जीवनी' मेरे तब तक पढ़े साहित्य में सबसे अलग प्रकार का उपन्यास था। मैंने तब तक प्रेमचन्द और शरतचन्द्र के उपन्यास पढ़े थे। अच्छे लगे थे। परन्तु 'शेखर' तो एक अत्यन्त वेगवती रचना थी। उसमें अनुभूतियों का इतना गहरा संगुंफन था कि पाठक बार-बार रूक कर रचना के सत्य को आत्मसात् करने को विवश हो जाता था। उसके चरित्र अत्यन्त गहरे और उदात्त थे। प्रेम का जो अर्थ 'शेखर' में देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं मिल पाता। वेदना और प्रेम, करूणा और प्रेम, आत्म-संघर्ष और प्रेम, क्रान्ति और प्रेम, ये सारे आयाम एक दूसरे में अन्तर्भुक्त हैं। उपन्यास ने मुझे चकित और विस्मय विभोर किया। मानव चरित्र की अप्रतिम ऊँचाइयाँ मैंने 'शेखर : एक जीवनी' में देखीं। शेखर की निर्भयता, शेखर का आत्मदान, शेखर की उदात्तता, शेखर की राष्ट्रभक्ति, शेखर का मानव प्रेम, सब गहरा प्रभाव डालते हैं। एक ऐसा प्रेमी जो अवकाश नहीं चाहता, जो अपने कर्त्तव्य में कहीं शिथिल नहीं होता, जिसमें हल्का उल्लास कभी तरंगायित नहीं होता, जो अपने आत्मदान की गहरी अनुभूति में सम्पूर्णता से डूबा हुआ है, जो सच्चा और ईमानदार है, जो कमज़ोर है तो अपनी कमज़ोरी में भी निपट ईमानदार है। समाज की गहरी चिन्ता से मुक्त, किन्तु समाज की उथली और थोथी मान्यताओं के प्रति

लापरवाह। शेखर पाठक को बार-बार झकझोरता है।

उसी प्रकार शशि का चरित्र अपने उद्दाम समर्पण में अप्रतिम है। वह प्रेम की ऐसी शिखा है जो बाँधती नहीं, प्रेरणा देती है और मुक्त करती है। जो अपनी अन्तः शक्ति से लैस है। शशि जैसी गहरी बौद्धिक अनुभूति वाली नारी हिन्दी उपन्यासों में शायद ही दिखे। शशि आत्मदान और आत्मोत्सर्ग की वह बलिबेदी है, जिस पर शेखर का पूरा व्यक्तित्व खड़ा होता है। शशि पूरे तौर पर एक स्वाधीन व्यक्तित्व है। उसका आत्म बलिदान, उसका अपना चुना हुआ है। कहीं किसी बाहरी विवशता से वह बँधती या दबती नहीं है। शेखर उसके सामने जगह-जगह पर लघुतर प्रतीत होता है।

'शेखर : एक जीवनी' पढ़ कर मुझे लगा कि अज्ञेय एक ऐसे साहित्यकार हैं, जिनकी पूरी दृष्टि एक उत्कृष्ट और उदात्त मनुष्य की खोज पर केन्द्रित है। जो स्वाधीनता, प्रेम, करूणा, आत्म त्याग पर विश्वास करते हैं। जो एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व की निर्मिति के लिए सदा उदग्र हैं।

लगभग चार-पाँच वर्षों पश्चात् मैंने अज्ञेय का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' पढ़ा, जो भुवन, रेखा और गौरा के अत्यन्त आत्मीय एवं अन्तरंग रिश्तों की मार्मिक अभिव्यक्ति का उपन्यास है। यहाँ भी वही आत्मदान, वही उदात्तता, वही स्वाधीनता और सम्पूर्णता की खोज है। भुवन और रेखा के बीच प्रणय की चरम अनुभूतियों का घटित होना इस उपन्यास की अपनी एक विशिष्ट उपलब्धि है और फिर कुछ ऐसा एहसास उन दोनों के बीच बनने लगता है कि भुवन आत्मस्थ होता जाता है। रेखा के जितना वह निकट है, उतना ही निस्संग भी है। भुवन अपनी शिष्या गौरा की ओर उन्मुख होने लगता है। गौरा प्रारम्भ से ही भुवन के प्रति समर्पित थी, परन्तु उसे प्राप्त करना या हस्तगत करना नहीं चाहती थी। उसके प्रेम में श्रद्धा, विश्वास और आत्मदान का अद्भुत रसायन था। वह भुवन और रेखा के प्रेम को रेशा-रेशा जानती थी। भुवन गौरा को सब कुछ बतलाता था। गौरा न दुःखी होती थी, न ईर्ष्यालु। न उसका प्रेम कहीं से क्षरित होता था। वह एक चिर प्रतीक्षा थी। परम धैर्यवान प्रतीक्षा। गौरा के अन्तस् में जैसे यह विश्वास दृढ़ीभूत था कि भुवन जहाँ भी है, वह उसके प्रति समर्पित है। उसे और कुछ नहीं चाहिए। वही भुवन अन्ततः गौरा की ओर मुड़ता है, प्रेम की एक नई पहचान के साथ।

गौरा और भुवन के इस प्रणय को रेखा अपनी शुभाशंसा और आशीर्वाद देती है। अपनी अँगूठी वह चुपके से गौरा की ऊँगली में पहना देती है।

मानव चरित्रों का यह उदात्त रूप साहित्य को एक नया आयाम देता है। अज्ञेय अपने साहित्य में इसी उदात्त मनुष्य की प्रतिष्ठा करते हैं। यही उदात्तता और करूणा उनकी कहानियों में भी परिलक्षित होती है। 'विपथगा' की कहानियाँ और 'शरणार्थी' की कहानियाँ उसी मनुष्य की खोज की कहानियाँ हैं, जिसका अन्तस् मैत्री, करूणा और आत्म त्याग से भरा है।

अज्ञेय की कविता-यात्रा आधी शती की लम्बी यात्रा है। 1936 से 1986 तक के पूरे पचास वर्ष अज्ञेय ने लगातार कविताएँ लिखी हैं। इस पूरी कविता-यात्रा में अज्ञेय ने एक संकल्पशील, उदात्त और स्वाधीन मनुष्य की खोज की है। उसी मनुष्य की प्रतिष्ठा अज्ञेय की रचना भूमि की मूल प्रतिज्ञा रही है।

अज्ञेय-साहित्य को पढ़ते समय बार-बार यह अनुभूति मेरे भीतर उपजती रही कि अज्ञेय अपने साहित्य के माध्यम से मनुष्य में एक गहरी आस्था का निर्माण और विकास करना चाहते हैं। वे एक ऐसे स्वाधीन मनुष्य की अवतारणा करना चाहते हैं, जिसका अपना विवेक सदा जाग्रत रहे। जो किसी व्यक्ति या विचारधारा, सम्प्रदाय या धर्म, क्षेत्र या मतवाद से प्रभावित और बोझिल होकर अपने को सीमित और संकीर्ण न बनाये। उसमें मैत्री, करूणा, प्रेम और सहानुभूति के तत्त्व सदा उदग्र रहें। अज्ञेय निर्भयता और सत्य को मनुष्य के जीवन का अविभाज्य मूल्य मानते हैं। जो सच्चा है वही निर्भय है। जो निर्भय होगा, वही सच्चा होगा।

स्वरति और आत्मविर्सजन का द्वन्द्व और उसका समाहार अज्ञेय की कविताओं में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। अज्ञेय पर प्रायः यह आरोप लगता रहा कि वे आत्मरति के शिकार रहे हैं। परन्तु अज्ञेय की कविताओं को गहराई से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे आत्मविकास को समवाय के लिए सहज समर्पित करने में विश्वास करते हैं:-

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

-यह दीप अकेला (बावरा अहेरी)

अहं का विकास और उसका समष्टि में विसर्जन अज्ञेय की कविताओं का एक मूल सत्य है। व्यष्टि और समष्टि को वे परस्पर विरोधी सत्ताएँ नहीं मानते। अज्ञेय की व्यष्टि सदा समष्टि के प्रति समर्पणशील है।

अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा है : 'मेरी स्वाधीनता सब की स्वाधीनता!' स्वाधीनता में स्वकेन्द्रिकता का भाव उनकी दृष्टि में एक क्षरणशील भाव है।

व्यष्टि एवं समष्टि के अन्तःसम्बन्ध को अज्ञेय ने अनेक सन्दर्भों में अपनी कविताओं में व्यंजित किया है। तीन सन्दर्भ तो अन्यन्त महत्वपूर्ण हैं- व्यक्ति और समाज, शब्द और भाषा तथा क्षण और काल-प्रवाह। व्यक्ति अज्ञेय की दृष्टि में जीवन्त इकाई है। वही स्पन्दित होती है। वही सृजन करती है। वही संवेदित होती है। उसी में मल्यचेतना होती है। समवाय या समाज उसी का संघट है। व्यक्ति जैसे होंगे समाज वैसा ही बनेगा। अज्ञेय ने कहीं भी व्यक्ति और समाज के अन्तःसंघर्ष को स्वीकार नहीं किया है। दोनों की पूरकता की बात भी वे नहीं करते हैं। समाज व्यक्ति की परिणति है। समाज एक उद्‌भावना है। व्यक्ति ही सत्य है। वही समाज बनाता है। इसी प्रकार जीवन्त क्षण ही काल का मापदण्ड है। क्षण मे हम जीते हैं। क्षण हममें जीता है। काल का अर्थ इन्हीं जीवन्त क्षणों का प्रवाह है। शब्द भी ऐसी ही इकाई है। अज्ञेय बार-बार कहते हैं कि वे सृजनशील शब्द की तलाश करते हैं। भाषा तो शब्दों से ही बनती है। अज्ञेय की भाषा-चेतना वास्तव में उनकी शब्द-चेतना है।

अज्ञेय के साहित्य में सबसे अधिक बल आस्था पर दिया गया है। आज के अनास्था मूलक युग में अज्ञेय की यह आस्था-चेतना बहुत ही महत्त्पूर्ण है। जब तक मनुष्य नये सिरे से आस्थावान नहीं बनेगा, समाज और संसार की पुनर्रचना सम्भव नहीं।

अज्ञेय मूलतः एक रागात्मक सर्जक हैं। उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा मूलतः रागात्मक ऊर्जा है। परन्तु उनकी रागात्मकता केवल उल्लास एवं आह्‌लाद मूलक नहीं है। उसमें वेदना और दुःख के स्वर बहुत गहरे हैं। अज्ञेय की प्रेम केन्द्रित कविताएँ पाठक को उदात्तता से भर देती हैं। प्रेम उनके लिए सच्चे मनुष्य के निर्माण का सबसे केन्द्रीय घटक है। एक स्थान पर वे लिखते हैं:-

कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुवाते कडुवे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, चिर-अखंड अपनापा।

-दीप अकेला (बावरा अहेरी)

संसार के सारे तम को चीरकर मनुष्य को आलोक जगत् में खींचने वाला यह प्रेम ही है। अज्ञेय इसी प्रेम को जीते रहे, प्रेम में जीते रहे, प्रेम को रचते रहे।

अज्ञेय की मूल्य दृष्टि किसी वैचारिकता की उपज नहीं हैं। वह सहज है, अनुभूतिजन्य है।

एक गोष्ठी में अज्ञेय की स्वाधीनता पर चर्चा चल रही थी। प्रसिद्ध चिन्तक प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने कहा,'' अज्ञेय की स्वाधीनता किसी विचारधारा की देन नहीं है, न यह स्वयं एक विचारधारा है। यह तो अज्ञेय का स्वभाव है।'' प्रोफेसर पाण्डेय की यह उक्ति सर्वथा सत्य है। अज्ञेय की मूल्य-चेतना किसी विचारधारा की देन नहीं है। यह उनका संस्कार है, उनका स्वभाव है।

इस पुस्तक का शीर्षक 'अज्ञेय के साहित्य में मनुष्य की नियति' क्यों दिया गया? यह प्रश्न पाठक के मन में तो उठना स्वाभाविक है ही स्वयं लेखक के मन में भी शिद्दत से उठता रहा है। नियति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता रहा है, जिसमें एक अर्थ जो भारतीय मानस में सबसे अधिक रूढ़ हो चुका है, गोस्वामी तुलसीदास की इस पंक्ति से निःसृत होता हैः-

होइहैं सोई जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै शाखा।।

भारतीय मानस का यह नियतिवाद अज्ञेय का अभिप्रेत नहीं है। 'शेखर : एक जीवनी' के प्रारम्भ में ही लेखक इस बात का उद्घोष करता है कि शेखर एक प्रकार का नियतिवादी है, किन्तु उसकी मान्यता है कि मानव स्वयं अपनी नियति का निर्माता होता है। अज्ञेय का नियतिवाद उनके वरण की स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है। फिर उसे नियतिवाद क्यों कहा जाए? इस प्रश्न से टकराते समय हमें अज्ञेय की पूरी सर्जना दृष्टि को देखना पड़ेगा। उनकी कविताएँ, उनका सम्पूर्ण

कथा-साहित्य, उनके निबन्ध और संस्मरण सभी से छनकर जो बात उभर कर सामने आती है, वह यह है कि अज्ञेय आस्थावादी हैं, करूणा और प्रेम, मैत्री और सख्य, उत्सर्ग और त्याग उनके सृजन के प्रेरक तत्त्व हैं। परन्तु अज्ञेय कोई उद्‌बोधन मूलक साहित्य नहीं लिखते हैं। जीवन के अनुभवों की ही वे पुनर्रचना करते हैं और उन अनुभवों का चयन करते समय उन्हें यह ख्याल अवश्य रहता है कि मनुष्य के चित्त को मानवीय संस्कार देने वाले अनुभव ही उनके लिए अर्थवान हैं। इस प्रकार मानव मन की खोज हमेशा उस आलोक-शिखा की है जो उसे एक गहरी मानवीय आभा से प्रकाशित कर दे। इस प्रकार वे मानते हैं कि मनुष्य अपनी नियति का भाग्य-विधाता स्वयं है और उसकी यह नियति उसे अधिक संवेदनशील, अधिक करूण, अधिक मानवीय और उदात्त बनाती है। इस पूरे प्रबन्ध में अज्ञेय-साहित्य के उन्हीं मूल्यों का संधान किया गया है जो उसे इस नियति से जोड़ते हैं।

अज्ञेय की मूल्य चेतना को उनके सम्पूर्ण साहित्य से छानकर एक संघनित और समग्र रूप से देखने और प्रस्तुत करने का विचार मेरे मन में लम्बे समय से पल रहा था मैं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला का बहुत आभारी हूँ कि उसने मुझे यह अवसर प्रदान किया। सम्पूर्ण अज्ञेय-साहित्य का पुनर्मंथन करके मैंने इस पुस्तक में अज्ञेय की मूल्यदृष्टि को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि इसका अध्ययन एक नये मनुष्य की रचना और निर्मिति में सहायक हो सके। इस पुस्तक के प्रकाशन में कुछ विलम्ब अवश्य हुआ है, किन्तु हमें प्रसन्नता है कि अब यह प्रकाशित होकर पाठकों को उपलब्ध होने जा रही है।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान **रामकमल राय**
शिमला-171005

अज्ञेय की मूल्यानुभूति

किसी भी साहित्य और मानव मूल्य का अन्तःसम्बन्ध तलाश करने से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि मानव से हमारा क्या तात्पर्य है। किन मूल्यों को हम मानव मूल्य कह सकते हैं। जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो सब से पहला प्रश्न उठता है कि किन बातों में मनुष्य शेष प्राणियों से भिन्न है? हमारे पुराने शास्त्रों के अनुसार आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियाँ शेष जीवों में भी वैसी ही हैं, जैसी मनुष्य में हैं। बहुत से गुण मनुष्य में ऐसे होते हैं, जो शेष प्राणियों में नहीं होते या बहुत कम होते हैं। उदाहरण के लिए सत्य को लें। सत्य की कोई आवश्यकता पशु-पक्षी को नहीं होती। सत्य तो उनके लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु सत्य तक उनकी पहुँच नहीं है। सत्य मानव जीवन का एक मूल्य है और यह आत्यन्तिक और शाश्वत मूल्य है। जब से मनुष्य सभ्य और संस्कृत होने की दिशा में अग्रसर हुआ है, उसने सत्य के अर्थ को पहचानने का प्रयास किया है। सभी धर्मों और समाजों में, सभी कालों में जो महान पुरूष गिने जाते हैं, उन्होंने सत्य की महिमा को स्वीकार किया है।

उदाहरण के लिए भाषा को भी ले सकते हैं। भाषा मनुष्य का ही आविष्कार है। कुछ संकेत, कुछ भंगिमाएँ, कुछ स्वर तो पशु भी प्रयोग में लाते हैं, परन्तु पूरी भाषा जिसमें मानव मन की सूक्ष्म पर्तों को खोलकर रख देने की क्षमता हो, मनुष्य की क्षमता का आविष्कार है। भाषा से जुड़े अनेक आयाम हैं, यथाः। भाषा और चिन्तन, भाषा और स्वाधीनता, भाषा और संस्कृति। यह चिन्तन, स्वाधीनता और संस्कृति भी मानवीय मूल्य हैं। साहित्य कैसे उन्हें अपने अन्तस् में सँजोता है, यह प्रश्न गहराई से विचारणीय है। भाषा और मौन, इनके अतःसम्बन्ध से साहित्य का

गहरा सरोकार है। कब और कहाँ मौन ही अभिव्यंजना बन जाता है, साहित्य इसकी समझ देता है।

मनुष्य के अन्तस् में एक देवासुर संग्राम चलता रहता है। उसमें क्रोध भी है और करूणा भी। उसमें राग और द्वेष हैं। उसमें प्रेम भी है और घृणा भी। उसमें अहं का विस्फार है, तो आत्मविसर्जन की प्रेरणा भी। उसमें प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता का भाव है, तो पारस्परिक सहकार का भी। उसमें हिंसा की प्रवृत्ति है तो अहिंसा की भावना भी है। वह शोषक है तो दाता भी है। वह तुच्छ है तो महत् भी वही है। वह स्वकेन्द्रित है तो परमार्थी भी है। इस देवासुर संग्राम में साहित्य का पक्ष किधर होता है, किधर होना चाहिए? इस प्रश्न का भी कोई सीधा-सपाट उत्तर देना सरल नहीं है। प्रारम्भ से ही एक धारा सदा यह मानती रही है कि साहित्य मानव जीवन के यथार्थ का अनुवाद है। वह समाज का दर्पण है। यदि साहित्य जीवन के यथार्थ का अनुवाद है, समाज का दर्पण है तो वह सब कुछ उसमें रचा जाएगा जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। परन्तु यह सच नहीं है। साहित्य केवल यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। वह मानव संस्कृति का निर्माता भी है। वह एक अच्छे मनुष्य को अपनी आन्तरिक अनुभूति से रचता और सिरजता है। अच्छे साहित्य का साक्षात्कार मनुष्य को उदात्ततर और अधिक मानवीय बनाता है। उसे हिंसा से अहिंसा की ओर ले जाता है। क्रोध से करूणा की ओर, नफ़रत से प्रेम की ओर, प्रतिद्वन्द्विता से सहकार की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जाने की उसमें क्षमता होती है। परन्तु साहित्य यह काम उद्‌बोधन से नहीं कर सकता। साहित्य में आह्‌वान और उद्‌बोधन का स्वर जितना प्रबल होगा, उसके प्रभाव की क्षमता उतनी ही कम होगी। साहित्य वास्तव में साहित्यकार और उसके पाठक के बीच की एक अनुभूति-मूलक साझेदारी है। साहित्यकार वास्तव में मूल्यों का रचयिता नहीं है, वह उसका भोक्ता है। जब ये मूल्य उसकी अनुभूति के अविभाज्य अंग हो जाते हैं और उसकी रचना में इस प्रकार रच-बस जाते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति पाठक की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, तभी इन मूल्यों का पाठक के संस्कार पर, उसके चित्त पर कोई गहरा असर हो पाता है।

इस परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर जब हम अज्ञेय के साहित्य में अनुस्यूत मानव मूल्यों को रेखांकित करते हैं तो हमें एक अत्यन्त आश्वस्तकारी भूति देखने

को मिलती है। अज्ञेय के साहित्य में दृष्टि, अनुभूति, मूल्यबोध और अभिव्यक्ति का अद्‌भुत संश्लेष है। भाषा और संवेदना वहाँ एकात्म हैं। इन सबके बीच एक जीवन-दर्शन भी प्रवाहमान है। इतना संश्लिष्ट, बहुआयामी और बहुस्तरीय साहित्य विरल ही उपलब्ध होता है। जिन मूल्यों को अज्ञेय ने अपने जीवन और अपने साहित्य में जिया और रचा है, उनमें कुछ का उल्लेख करना समीचीन होगा। यहाँ सबसे पहले स्वाधीनता की बात करूँगा।

स्वाधीनता अज्ञेय के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व में एक सर्वश्रेष्ठ और अनिवार्य मूल्य है। स्वाधीनता को वे किसी अन्य मानवीय मूल्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति उनके साहित्य में नाना प्रकार से हुई है। उनके काव्य में यह मूल्य एक परम मानवीय अनुभूति के रूप में व्यंजित हुआ है। कथा साहित्य में यह पात्रों के चरित्रों में अनुस्यूत है। उनके तर्कों और व्याख्याओं में अभिव्यक्त है। उनकी स्वाधीनता की परिकल्पना क्या है? उनकी पुस्तक 'स्रोत और सेतु' के पहले निबन्ध का शीर्षक है 'मेरी स्वाधीनता : सबकी स्वाधीनता'। उस निबन्ध में अज्ञेय कहते हैं : ''स्वाधीन होना अपनी चरम संभावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है।'' परन्तु यह विकास वे किसी अन्य के विकास को अवरूद्ध करके नहीं चाहते हैं। उनकी स्वाधीनता तभी अपनी सार्थकता का बोध कराती है, जब उसकी छुवन से दूसरे में भी स्वाधीनता का बोध ही जागृत हो। एक अन्य स्थान पर अज्ञेय कहते हैं, ''तुम कहते हो कि मैं कला और संस्कृति की बात नहीं कर सकता, क्योंकि मैं नंगा और भूखा हूँ। मैं कहता हूँ कि मैंने नग्नता और भूख का वरण किया है ताकि मैं कला और संस्कृति की बात कर सकूँ''। अज्ञेय के वरण की यह स्वतंत्रता उनके उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में और प्रखर होकर व्यक्त हुई है। अपनी पुस्तक 'अज्ञेय : वागर्थ्‌ा का वैभव' में डॉ. रमेश चन्द्र शाह कहते हैं : ''अज्ञेय का जीवन-दर्शन, अज्ञेय के व्यक्तित्व और कृतित्व की मूल अभीप्सा और जीवन-व्यापी खोज क्या है? वह क्या है जो उसके विद्रोह और उसकी आस्था का भी आधार और सृजनशीलता को भी उत्प्रेरित करने वाली चीज़ है? निश्चय ही वह स्वातंत्र्य की ही अभीप्सा है, स्वाधीनता की ही खोज है। स्वाधीनता जो निरन्तर आविष्कार, शोध और संघर्ष माँगती है, यहाँ तक कि स्वयं अज्ञेय के शब्दों में,

'उस शोध और संघर्ष को ही-स्वाधीनता की अन्तहीन ललक को ही-स्वाधीनता का सार-सत्व कह सकते हैं।' यही एक चीज़ है जो स्थायी भाव की तरह अज्ञेय के यहाँ आरम्भ से अन्त तक मौजूद है।" (अज्ञेय : वागर्थ का वैभव -डॉ. रमेश चन्द्र शाह, पृष्ठ-96)

डॉ. रमेश चन्द्र शाह आगे कहते है : "आरम्भ में वह मानो एक तरह का अराजकतावादी रूझान-सा है, बीच में वह वरण स्वातंत्र्य और मानवीय कर्म की नैतिकता के प्रामाण्य का उत्तरोत्तर गहन होता जा रहा अनुसन्धान है और अपनी परिणति पर वह सम्पूर्ण सत्ता की, सत्तामय जीवन की ऐसी पहचान, ऐसी प्रतीति बन जाता है जिसे देखकर लगता है, मोक्ष का इससे अलग आधुनिक बुद्धि को सन्तुष्ट करनेवाला भला और कौन सा रूप होगा?" (वही)

अज्ञेय स्वयं कहते है : "सम्पूर्ण सत्ता का आदेश ही स्वतंत्रता है, उसके निर्देशन में जीवन ही स्वाधीन जीवन है। यहाँ आकर चेतना, कॉंशेन्स और स्वाधीनता एक हो जाते हैं, चेतन विवेक से निर्दिष्ट होकर जीना ही स्वाधीन जीना है। यह स्वाधीनता निर्भयता की अवस्था है।"

अज्ञेय जब कहते हैं : "यह दीप अकेला स्नेह भरा/है गर्व? भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।" तो इस आत्मदान में स्वाधीन विवेक का तत्त्व भी उतना ही है जितना समष्टि में व्यष्टि के विर्सजन का। और कैसी व्यष्टि? जो अपनी सम्पूर्ण संभावना तक विकसित हो चुकी है। अज्ञेय के साहित्य में अहं के विसर्जन का मूल्य भी उतना ही गहरा है। यह विडम्बना ही है कि अज्ञेय को अहंवादी या व्यक्तिवाद कहा गया है। जबकि अपनी सम्पूर्ण सृजन-यात्रा में वे अपने अहं को विसर्जित करने की ही साधना करते रहे हैं। किन्तु यह अहं का विसर्जन अपनी पहचान के उपरान्त ही एक मूल्य बन कर उभरता है। 'इस यात्रा का लक्ष्य अपनी पहचान है, इसलिए वह अपने को ही मुक्त करने का अभियान है।" अज्ञेय के काव्य में अहं के विसर्जन की अनुभूति प्रारम्भ से अन्त तक परिव्यसाप्त है।

अज्ञेय जिस युग में सृजन रत थे वह युग व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्विरोधों का युग था। कहीं व्यष्टि की स्वतंत्रता और विकास के नाम पर समष्टि का शोषण हो रहा था, कहीं समष्टि के नाम पर व्यष्टि को रौंदा जा रहा

था। अज्ञेय ने अपने साहित्य में व्यष्टि और समष्टि की एकात्मता को शिद्त से रेखांकित किया है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' इसका अप्रतिम उदाहरण है। इस कविता का प्रणयन सन् 1949 में हुआ था। व्यक्ति और समाज के अन्तर्विरोध का वह चरम काल था। उस दौर में अज्ञेय ने इस अन्तर्विरोध को अन्तःसंम्बध के रूप में रचा था और इनके बीच एक तीसरी सत्ता के अन्तर्भाव की परिकल्पना की थी। वह तीसरी सत्ता है संस्कृति। इस तरह व्यक्ति, समाज और संस्कृति का क्रम बनता है। इसके पूर्व व्यक्ति और समाज के अन्तःसम्बन्धों की बहस और तलाश में किसी को संस्कृति का ध्यान नहीं आता था। अज्ञेय ने इस कविता में तीन प्रतीकों का सहारा लिया हैः व्यक्ति का प्रतीक द्वीप, समाज की प्रतीक भूखण्ड और संस्कृति का प्रतीक नदी। पूरी कविता में इन तीनों के बीच किसी अन्तर्विरोध की छाया भी नहीं है। केवल अन्योन्याश्रय का ही ताना-बाना है। कविता का एक अंश द्रष्टव्य है :-

हम नहीं के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हम को छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह है, इसी से हम बने हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्ति और संस्कृति का सम्बन्ध सन्तान और उसकी माँ के समकक्ष निरूपित किया गया है। व्यक्ति और समाजके अन्तःसम्बन्ध को उसी कविता के दूसरे अंश में देखें :-

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नही के क्रोड़ में।
वह बृहद् भूखण्ड से हम को मिलाती है।
और वह भूखण्ड अपना पितर है।

नदी (संस्कृति) माँ, भूखण्ड (समाज), पितर और द्वीप (व्यक्ति) के अन्तःसम्बन्धों की व्यंजना जिस प्रकार इस कविता में हुई है, वह अज्ञेय की व्यष्टि-समष्टि दृष्टि का स्पष्ट आख्यान है। इस दृष्टि को उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में भी उसी स्पष्टता के साथ रूपायित किया है। उनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'नदी के द्वीप' का नायक भुवन उपन्यास की नायिका रेखा से इस सम्बन्ध को लेकर संवाद की स्थिति में है। रेखा कहती है : ''हम द्वीप हैं, मानवता के सागर में व्यक्तित्व के छोटे-छोटे द्वीप; और प्रत्येक क्षण एक द्वीप है-ख़ासकर व्यक्ति और व्यक्ति के सम्पर्क का, कॉंटैक्ट का प्रत्येक क्षण-अपरिचय के महासागर में एक छोटा किन्तु कितना मूल्यवान द्वीप!'' (नदी के द्वीप, पृष्ठ-110)

अज्ञेय की मूल्यदृष्टि कहीं भी इकहरी या सपाट नहीं है। उनकी समूची जीवन-दृष्टि में अनुस्यूत और संश्लिष्ट है। व्यष्टि और समष्टि का यह अन्तःसम्बन्ध जहाँ एक ओर व्यक्ति और समाज के धरातल पर अपना अर्थ रखता है, वहीं वह क्षण और निरवधिकाल के बीच का सम्बन्ध बन जाता है, तो कहीं शब्द और भाषा का अन्तःसम्बन्ध।

अज्ञेय व्यक्ति को समाज के सन्दर्भ में, क्षण को काल-प्रवाह के सन्दर्भ में और शब्द को भाषा के सन्दर्भ में उसी मूल्य-दृष्टि के तहत देखते हैं। व्यक्ति ही समाज बनता है, क्षण ही काल बन जाता है और शब्द ही भाषा बनता है-व्यक्ति और व्यक्ति और व्यक्ति; क्षण और क्षण और क्षण शब्द और शब्द और शब्द। इकाई का समवाय में बदलना-यही है सृष्टि के सामंजस्य का शाश्वत नियम। अन्तर्विरोधों की सृष्टि हम करते हैं। समग्रता सृष्टि का नियम है। यह समग्रता ही अद्वैत तक पहुँचती है।

अज्ञेय के साहित्य में अन्यतम मूल्य प्रेम है। प्रेम को अज्ञेय ने अनेक रूपों में जिया और रचा है। कहीं वह वेदना के आवें में तपकर खरा कंचन-सा दमकता दिखता है, कहीं वह व्यक्ति के आत्म-विसर्जन का चरम रूप बनकर व्यक्त होता है। कहीं वह मानवीय उदात्तता का चरम उत्कर्ष बन कर उभरता है, कहीं वह उल्लास और आह्लाद का चरम आनन्दमय स्वरूप बन कर स्पन्दित होता है। अज्ञेय की सर्जनात्मक ऊर्जा का उत्स प्रेम है। उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा मूलतः रागात्मक ऊर्जा है। उनकी कविताओं में इसके नाना रूप झाँकते हैं। उनके

उपन्यासों में यह केन्द्रीय भाव है। उनकी कहानियों की उदात्तता प्रेम से ही निःसृत होती है। उनकी एकाध कविताओं के कुछ अंश इस संन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं :-

समर्पण लय, कर्म है संगीत,
टेक कहणा, सजग मानव प्रीति।
यति न खोजो-अहं ही यति है!-स्वयं रण रणित होते
रहो, मेरे मीत!

(छन्द है यह फूल, सदानीरा, भाग-1, पृष्ठ-242)

ऊपर की पंक्तियों में कई मूल्य एक साथ अन्तर्भुक्त हैंः अहं और उसका समर्पण, कहणा और प्रीति, और स्वयं रण रणित होते रहना। अज्ञेय अपनी अभिव्यक्ति में कहीं भी इकहरे नहीं हैं। उनकी अभिव्यक्ति एक संशिलष्ट अभिव्यक्ति है। वह सपाट और एक रैखिक नहीं है। वेदना और प्रेम के अन्तःसम्बन्ध को उजागर करने वाली ये पंक्तियाँ कितनी बेधक हैं :-

गगन में मेघ घिरते हैं
तुम्हारी याद घिरती है।
उमड़कर विवश बूँदें बरसती हैं-
तुम्हारी सुधि बरसती है।
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता। क्योकि तुम ने भी निकट से दुःख जाना था।

(पहला दौंगरा, सदानीरा भाग-1, पृष्ठ-238)

अज्ञेय के उपन्यासों में भी प्रेम के अनुभव को अनेक कोणों से व्यक्त किया गया है। 'नदी के द्वीप' में एक स्थल पर लेखक कहता है : ''मैत्री, सख्य, प्रेम-इनका विकास धीरे-धीरे होता है, ऐसा हम मानते हैं। 'प्रथम दर्शन से ही प्रेम' की सम्भावना स्वीकार कर लेने से भी इसमें कोई अन्तर नहीं आता। पर धीरे-धीरे होता हुआ भी समगति से बढ़ने वाला विकास नहीं होता, सीढ़ियों की तरह बढ़ने वाली उसकी गति होती है, क्रमशः नये-नये उच्चतर स्तर पर पहुँचने वाली। कली का प्रस्फुटन उसकी ठीक उपमा नहीं है, जिसका क्रम-विकास हम अनुक्षण

देख सकें : धीरे-धीरे रंग भरता है, पंखुड़ियाँ खिलती हैं, सौरभ संचित होता है और डोलती हवाएँ रूप को निखार देती जाती हैं। ठीक उपमा शायद साँझ का आकाश है : एक क्षण सूना, कि सहसा हम देखते हैं, अरे, वह तारा और जब तक हम चौंक कर सोचें कि यह हमने क्षण भर पहले क्यों न देखा-क्या तब नहीं था? तब तक इधर-उधर, आगे, ऊपर कितने ही तारे खिल आयें, तारे ही नहीं, राशि-राशि नक्षत्र-मण्डल, धूमिल उल्का-कुल, मुक्त-प्रवाहिनी नभ पयस्विनी-अरे, आकाश सूना कहाँ है, यह तो भरा हुआ है रहस्यों से, जो हमारे आगे उद्‌घाटित है.....''प्यार भी ऐसा ही है : एक समोन्नत ढलान नहीं, परिचिति के, आध्यात्मिक संस्पर्श के नये-नये स्तरों का उन्मेष.....उसकी गति तीव्र हो या मन्द, प्रत्यक्ष या परोक्ष, वांछित हो या वांछातीत। आकाश चंदोवा नहीं है कि चाहें तो तान दें। वह है तो है, और है तो तारों भरा है, नहीं है तो शून्य शून्य ही है, जो सब कुछ को धारण करता हुआ रिक्त बना रहता है.....।'' (नदी के द्वीप, पृष्ठ-71)

प्रेम की अनुभूति को शब्दबद्ध नहीं किया जा सकता है। प्रेम के अनेक स्तर होते हैं, अनेक आयाम और छवियाँ होती हैं। स्वयं अज्ञेय ने अपने उपन्यासों, कहानियों और कविताओं में प्रेमानुभूति के अनेक स्तरों को छुआ है। फिर भी ऊपर की पंक्तियों में अज्ञेय ने प्रेम के अनुभव को एक गहरी, संस्पर्शी और मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। पढ़ने वाला कहीं-न-कहीं उसे अपने अनुभव से जोड़कर रोमांचित होता है।

अज्ञेय के सम्पूर्ण सृजन में एक प्रकार की उदात्तता का साक्षात्कार है। उनके उपन्यासों में ऐसे चरित्र हैं जो इस उदात्तता की साक्षात् प्रतिमूर्ति लगते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' की शशि, 'नदी के द्वीप' की रेखा और गौरा, स्वयं भुवन सही अर्थों में उदात्तत चरित्र हैं। अज्ञेय की कहानियों में यह उदात्तता जगह-जगह रूपायित होती है। अज्ञेय का काव्य इस उदात्त भूमि पर ही अधिकांशतः रचा गया है।

अज्ञेय की मूल्यानुभूति के ये तत्त्व अलग-अलग इकहरे और सपाट ढंग से अभिव्यक्त नहीं हुए हैं। उनकी अभिव्यक्ति जटिल एवं संशिलष्ट है। एक मूल्य दूसरे में संक्रमित होता है। एक-दूसरे को उत्प्रेरित और सवंर्द्धित करते हैं। इस

दृष्टि से उनकी एक छोटी-सी कविता उद्घृत करना चाहूँगा :-

जीवन,
देना ऐसा सुख जो सहा न जाय।
इतना दर्द कि कहा न जाय।
ताप कृच्छ्रतम मेरा हो, अनुभूति तीव्रतम-
मैं अपना मत होऊँ!
मुझसे स्नेह झरे जिससे मैं सबको दे आलोक अमलतर
ऐसा दिया संजोऊँ।

देना जीवन, सुख, दुख, तड़पन,
जो भी देना, इतना भर-भर, एक अहं में वह न समाय-
एक ज़िन्दगी एक मरण का घेरा जिसको बाँध न पाय,
बच रहने की प्यास मिटा दे जो इसलिए अमर कर जाय।

किन्तु साथ ही देना साहस
हो अन्याय किसी के भी प्रति पर मुझसे चुप रहा न जाय।
आस्था जिसके सुख का प्लावन ज्वार व्यथा का बहा न पाय।
आकांक्षा का मधुर कुहासा, संशय का तम, करे न ओझल
वह पैना विवेक जिसको दुश्चिन्ता कोई करे न बोझिल
सच का आग्रह, निष्ठा की हठ,
अग-जग के विरोध का धक्का जिसको ढहा न पाय।
देना, जीवन, देना।
(देना जीवन, सदानीरा, भाग-1 पृष्ठ-228)

इस कविता में अज्ञेय का जीवन दर्शन निर्भ्रान्त स्वर में बद्ध हुआ है इसी दर्शन को वे अनुभूति में ढालते रहे हैं। इसका केन्द्रीय तत्त्व आस्था है। आज के अनास्थामूलक युग में अज्ञेय की यह आस्था निश्चय ही एक बड़ी शक्ति है।

मानवीय संवेदना और काव्य : अज्ञेय की काव्य-भूमि

कविता मनुष्य की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति है। जब वह कहीं विचलित होता है, कहीं राग-दीप्त होता है, कहीं विस्मय-विभोर होता है, कहीं गहरी करूणा से अभिसिंचित होता है, कहीं किसी अन्याय के विरूद्ध क्रोधाविष्ट होता है, कहीं भी गहरे संवेदन में होता है, उसकी चेतना से स्वतः कुछ फूटता है। वहीं कविता बन जाती है। कविता को परिभाषित करने की बार-बार कोशिश की गई है। कहीं कवि को परिभू, स्वयंभू कहा गया है, कहीं उसकी पहुँच को रवि की पहुँच से भी आगे बतलाया गया है। कहीं उसका उत्स वियोग में बतलाया गया है- ''वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गाना निकलकर नयनों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान''। कहते हैं कि वाल्मीकि ने जब देखा कि बहेलिए ने क्रौंच-युगल में से एक को उनके रति-प्रसंग के बीच ही मार दिया है तो उनकी जिह्वा से प्रथम कविता फूट निकली थी। कविता के स्वतःस्फूर्त होने का आख्यान नाना प्रकार से हुआ है। आचार्य शुक्ल ने कविता मात्र स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति नहीं रह गई। मनुष्य जीवन के गहरे प्रश्नों का समाधान खोजने वाली विधा के रूप में इसका विकास हुआ। यूँ पहले भी काव्य मानव जीवन के गहनतम प्रश्नों से जूझता रहा है। भारतीय परम्परा में 'महाभारत' या 'रामायण' अथवा गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' ऐसी ही महान काव्य रचनाएँ हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता को जिस धरातल पर अज्ञेय ने उपलब्ध किया था, वह छायावादी काव्य और छायावादोत्तर काव्य का धरातल था। जयशंकर प्रसाद,

सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा ने अपने-अपने ढ़ंग से उस धरातल का निर्माण किया था। उस काव्य का एक आयाम रागात्मक था तो दूसरा प्रकृति के सौन्दर्य को रेखांकित करनेवाला। एक आयाम नारी के व्यक्तित्व की आन्तरिक सत्ता को पहचाननेवाला था, तो दूसरा पुरूष के समकक्ष उसकी सत्ता को प्रतिष्ठित करने वाला। उसका एक आयाम इहलौकिक था तो दूसरा पारलौकिक। छायावादी काव्य की भाषा भी अधिकांशतः संस्कृतनिष्ठ और तत्सम शब्दों से भश थी। छायावादी काव्य का बिम्ब-विधान भी सर्वथा नवीन था और कहीं-कहीं अत्यन्त संश्लिष्ट।

छायावादोत्तर कवियों में अपेक्षाकृत ऋजुता का समावेश हुआ। उसकी रागात्मकता अधिक मांसल थी। उसकी संस्कृति दृष्टि अधिक सरलीकृत। प्रकृति से उसका सरोकार कम था। स्त्री उसके लिए अधिक जानी-पहचानी थी। रामधारी सिंह 'दिनकर', हरिवंश राय 'बच्चन', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और नरेन्द्र शर्मा-इन पाँच कवियों के द्वारा यह छायावादोत्तर काव्य-भूमि निर्मित हुई थी। इनमें भी 'बच्चन' की रागात्मकता और 'दिनकर' की बौद्धिक ऊर्जस्विता अधिक महत्त्वपूर्ण थी। 'बच्चन' अपनी 'मधुशाला', 'मधुकलश', 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' आदि के द्वारा एक प्रेम-विभोर कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। 'दिनकर' को राष्ट्रीय कवि के रूप में प्रतिष्ठा अवश्य मिली थी, परन्तु उनका वास्तविक कवि-व्यक्तित्व उनकी दो रचनाओं 'उर्वशी' और 'कुरूक्षेत्र' के आधार पर प्रतिष्ठित हुआ। 'उर्वशी' में प्रेम की शारीरिक एवं अशरीरी स्थितियों को विवेचन अत्यन्त ऊर्जस्वित धरातल पर किया गया है। पुरूरवा और उर्वशी के माध्यम से शरीरी एवं शरीरेतर प्रेम-सम्बन्धों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। 'कुरूक्षेत्र' में महाभारत की समाप्ति के पश्चात् युधिष्ठिर एवं भीष्म के संवादों के माध्यम से युद्ध और शान्ति के आन्तरिक सम्बन्धों पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया गया है। 'अंचल' और 'नवीन' की कविताओं की भूमि अपेक्षाकृत ऋजु संवेदना की भूमि है।

इसी पृष्ठभूमि में अज्ञेय की काव्य यात्रा प्रारम्भ होती है। अज्ञेय अपने काव्य सृजन के द्वारा एक नये मनुष्य की रचना करना चाहते हैं। कुछ ऐसे मानवीय मूल्य उनकी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्पूर्ण हैं, जिनको आत्मसात् करके ही मनुष्य

अधिक मानवीय संवेदना से युक्त हो सकता है। इन मूल्यों में-व्यष्टि और समष्टि का उचित अन्तःसबन्ध, व्यक्ति की आन्तरिक स्वाधीनता, मनुष्य में प्रेम एवं करूणा की गहरी अनुभुति, एक गहरे विवेक की पहचान, सौन्दर्य के प्रति निष्ठा, एक बृहत्तर सत्य की खोज जो लौकिक अनुभवों को अतिक्रमित करके ही सम्भव है, प्रकृति के विराट् रूपों-सागर, पर्वत, नदी-निर्झर, वन-खेत के सौन्दर्य के प्रति गहरा समर्पण और दुःख को आत्मीय भाव से स्वीकारना तथा उसके द्वारा अपने को मुक्त करना शामिल है। इन सबके उपरान्त अन्ततः अपने सब कुछ को एक विराट् और परम् सत्ता में विसर्जित करने का चरम सुख भी है। इन मूल्यों और दृष्टियों को अपनी कविता में रचते हुए अज्ञेय ने एक अधिक आस्था-सम्पन्न मनुष्य को रचने का प्रयास किया है, जो आज के अनास्था एवं निष्करूणामूलक समाज के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस मूल्य-परिप्रेक्ष्य में अज्ञेय अपनी काव्य संवेदना को एक चिंतनमूलक आयाम देते हैं। उनकी पहली काव्य-रचना का शीर्षक ही 'चिन्ता' है। यह चिन्तन दुहरे अर्थों में हैं- भाषिक अभिव्यक्ति के स्तर पर और संवेदना के स्तर पर। अज्ञेय शब्दों की सर्जनात्मक शक्ति पर अधिक से अधिक ध्यान केन्द्रित करते हैं। नये-नये शब्द प्रयोगों का सन्धान कर नये प्रतीकों और बिम्बों की अवतारणा उनके काव्य-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

जिस युग में अज्ञेय ने अपना कवि-कर्म प्रारम्भ किया, उस युग में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लेकर गहरे पूर्वाग्रह थे। एक ओर व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता का उद्घोष किया जाता था, दूसरी ओर समाज की पक्षधरता का। व्यक्तित्व की चिन्ता किसी ओर नहीं थी। समाज की प्रतिष्ठा के नाम पर व्यक्ति और वैयक्तित्व मूल्यों को दमित किया जाता था। व्यक्ति और समाज के बीच का यह द्वन्द्व पूरी विश्व सभ्यता को अमानवीय बना रहा था। इसके राजनीतिक भाष्यों ने पूरे संसार को दो भागों में विभक्त कर रखा था। एक ओर पूँजीवादी देश थे, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की बात करते थे। प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता के सिद्धान्तों के नाम पर पूँजी और सत्ता का केन्द्रीकरण कर रहे थे। थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में पूँजी और सत्ता सिमटती जा रही थी। वृहत्तर समाज वंचितों और पीड़ितों का होता था। दूसरी ओर समाज के नाम पर क्रान्तियाँ हुई। सत्ता थोड़े से लोगों के हाथों मे आई

और फिर वे थोड़े से लोग ही पूरे तंत्र पर अधिकार कर गए। इधर भी समाज वंचितों का था, उधर भी।

अज्ञेय को लगा कि व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने के लिए इस द्वन्द्व को समाहार का नया धरातल देना होगा। उनकी प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' इस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इस कविता में तीन प्रतीकों का सहारा लिया है- नदी संस्कृति का प्रतीक है, भूखण्ड समाज का एवं द्वीप व्यक्ति का। इनके अन्तःसम्बन्धों का आख्यायन इस कविता की अन्तर्वस्तु है। प्रायः व्यक्ति और समाज के रिश्तों पर बहसें होती हैं। कहीं व्यक्ति का पड़ला भारी रहता है, कहीं समाज का। संस्कृति की तो इस सन्दर्भ में कभी चर्चा ही नहीं होती। अज्ञेय ने व्यक्ति (द्वीप) को संस्कृति (नदी) की गोद में बैठा हुआ दिखलाया है। संस्कृति (नदी) प्रवहमान है। व्यक्ति (द्वीप) अपना रूप, आकार सब कुछ उसी नदी से प्राप्त करता है। उसे अपनी माँ मानता है और समाज (भूखण्ड) को अपना पिता। तीनों एक दूसरे से अविच्छिन्न हैं। परस्पर अवलम्बित हैं। व्यक्ति, समाज, एवं संस्कृति के परस्पर अवलम्बन का आख्यान करती हुई यह कविता इन तीनों को एक नया आयाम देती है।

इसी प्रकार अज्ञेय व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को एक नया आयाम देते हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता-'दीप अकेला' में वे कहते हैं- ''यह दीप अकेला स्नेह भरा है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।'' व्यष्टि की परिपूर्णता और अन्ततः उसका समवाय में आत्मदान इस कविता का मूल स्वर है। ठिगना, बौना, अवरूद्ध व्यक्ति किसी समृद्ध समष्टि का निर्माण नहीं कर सकता। अज्ञेय का पूरा बल व्यष्टि को उसकी सम्भावनाओं की पूर्णता तक पहुँचाने पर है और वह परिपूर्ण व्यक्ति तभी अपनी सिद्धि और सार्थकता पाता है, जब अपने को समवाय में विलीन कर दे। एक स्थान पर कवि कहता है :-

उसी एकान्त में घर दो
जहाँ पर सभी आवें
वही एकान्त सच्चा है,
जिसे सब छू सकें।

एकान्तता और सर्वस्पर्शिता इन दो ध्रुवान्तों का सम्मिलन ही अज्ञेय की कविता की अनूठी सच्चाई है।

अज्ञेय के काव्य में दूसरा महत्त्वपूर्ण मूल्य जो अत्यन्त गहराई तक धँसा हुआ है, स्वाधीनता है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है : ''तुम कहते हो कि मैं कला और संस्कृति की बात नहीं कर सकता, क्योंकि मैं नंगा और भूखा हूँ। मैं कहता हूँ कि मैंने नग्नता और भूख का वरण किया है, ताकि मैं कला और संस्कृति की बात कर सकूँ।'' इस कथन में जहाँ एक ओर व्यक्ति की स्वाधीनता का उद्‌घोष है, वहीं दूसरी ओर भौतिकता के ऊपर कला और संस्कृति की सत्ता-प्रतिष्ठा भी है। अज्ञेय की स्वाधीनता ऐसी नहीं हैं, जो दूसरों को पराधीनता की ओर धकेले। उनकी स्वाधीनता दूसरों को और भी स्वाधीन बनाती है। अज्ञेय एक स्थान पर लिखते हैं : ''भीड़ का मत हो डटा रह, मगर दिग्‌विद् पान्थ के समुदाय से तू अकेला मत छूट।'' इस उक्ति में जहाँ भीड़ से अप्रभावित रहने का स्वर मुखर है, वहीं दिग्‌विद् पान्थ से जुड़े रहने का भाव भी उतना ही प्रबल है। उनकी स्वाधीनता में न दम्भ है, न दर्प है। वे कहते हैं : जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकती है, उतना ही मैं प्रेत हूँ। जितना रूपाकार सारमय दीख रहा हूँ रेत हूँ। वे सूये से प्रार्थना करते हैं :-

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है,
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जायेगा?
लो, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खंडर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनी से अपनी
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे:''

(बावरा अहेरी)

इस प्रकार अज्ञेय की स्वाधीनता स्वयं अपने को खोलकर रख देती है। अपनी कमज़ोरियों का उद्‌घाटन वे स्वयं करते हैं।

अज्ञेय के काव्य में दुःख भी एक बड़ा मूल्य बन कर उभरता है। दुःख ही मनुष्य को संवेदनशील और करूणाशील बनाता है। एक कविता में वे कहते हैं :-

दुःख सब को माँजता है
और-चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रक्खें।

उनके दुःख-बोध में एक उदात्त स्वर है, जो गान्धी-दृष्टि के बहुत करीब है। एक स्थान पर वे कहते है : "धैर्य पराजय में-यह भी गौरव है।" अज्ञेय की कविता में वेदना का स्वर बहुत सघनता से फूटता है। प्यार में उल्लास, आह्लाद तो सहज ही हैं। अज्ञेय के काव्य में भी उसका आख्यान है, परन्तु उनके प्यार में वेदना का तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण बन कर उभरा है :-

गगन में मेघ घिरते हैं
तुम्हारी याद घिरती है।
उमड़कर विवश बूँदें बरसती हैं,
तुम्हारी सुधि बरसती है
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता।
क्योंकि तुमने भी निकट से दुःख जाना था।

अज्ञेय की दृष्टि में मनुष्य को मुक्त करने वाला तत्त्व केवल प्यार है :-

साँस का पुतला हूँ मैं, जरा से बँधा हूँ और मरण को दे दिया गया हूँ;
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा जीवन मुक्त मैं किया गया हूँ।

प्रेम अज्ञेय के काव्य का मूल स्वर है। उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा मूलतः रागात्मक ऊर्जा है। किन्तु उनका प्रेम सरल रूमानियत नहीं है। छायावादी और छायावादोत्तर रोमैंटिक काव्य से वे अपने को सायास अलग करते हैं। उनके प्रेम में गहरे आत्मदान का स्वर है :-

जीवन का हर कर्म सर्मपण हो जाता है
आस्था का आप्लावन एक संशय के कल्मष धो जाता है
क्योंकि तुम हो।

अज्ञेय की प्रणयानुभूति में एक आराधना-तत्त्व भी दिखता है :-

ये तुम्हारे नाम की दो बत्तियाँ हैं धूप की
डोरियाँ दो गन्ध की
जो न बोलें किन्तु तुम को छू सकें।
जो विदेही स्निग्ध बाहों से तुम्हें वलयित किये रह जायें।

(धूप-बत्तियाँ)

प्रणय का यह रूप मांसल रूमानियत से सर्वथा भिन्न हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं :-

तुम हँसी हो-जो ने मेरे ओठ पर दिखे,
मुझे हर मोड़ पर मिलती रही है।

प्रेम का यह उदात्त स्वर अज्ञेय की कविता का एक प्रमुख स्वर है, जो पाठक के भीतर संक्रमित होता है।

अज्ञेय के काव्य में एक गहरा आन्तरिक विवेक है, जो किसी के प्रभाव में नहीं आता, न किसी का निर्देशन स्वीकार करता है। साहित्यकार की स्वायत्त सत्ता का उद्‌घोष करता हुआ यह विवेक अज्ञेय की कविता में यत्र-तत्र फैला हुआ है। वे कहते है :-

जियो उस प्यार में
जो मैंने तुम्हें दिया है,
उस दुःख में नहीं जिसे
बेझिझक मैंने पिया है।

एक स्थान पर वे साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि साहित्यकार सदा अपनी अन्तरात्मा के निर्देशन पर चलता है। कभी

किसी भी परिस्थिति में वह किसी अन्य के इशारे पर नहीं चल सकता। अज्ञेय के लिए तो :-

अंकुरित धरा से क्षमा
व्योम से झरी रूपहली करूणा
सरि, सागर, सोते-निर्झर-सा
उमड़े जीवन :
कहीं नहीं है मरना।

वे पूर्णता में विश्वास करते हैं। अधूरापन उन्हें काम्य नहीं। भले ही क्षण भर का जीवन हो, परन्तु उसी में वह परिपूर्ण हो सकता है। वे लिखते हैं :-

मै देख रहा हूँ
झरी फूल से पँखुरी
-मैं देख रहा हूँ अपने को ही झरते।
मैं चुप हूँ वह मेरे भीतर बसन्त गाता है।

फूल से पँखुरी का झरना कवि में एक आत्म विसर्जन का भाव जगाता है, परन्तु वह आत्म विसर्जन अवसान नहीं है, अमरत्व है। उसे लगता है, उसके भीतर बसन्त गा रहा है।

अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'साम्राज्ञी का नैवेद्य-दान' में कवि ने एक अत्यन्त कोमल भाव को व्यंजित किया है। आराधना के लिए, बुद्ध प्रतिमा पर फूल चढ़ाने के लिए साम्राज्ञी उपवन में जाती है। वृन्त पर खिले हुए फूलों को देखती है और उन फूलों को तोड़ने में उसका मन कांप जाता है, उसकी उगंलियाँ इन्कार कर देती हैं वह खाली हाथ बुद्ध प्रतिमा के पास जाती है और निवेदन करती है :-

हे महा बुद्ध!
मैं मन्दिर में आयी हूँ
रीते हाथ
फूल मैं ला न सकी।

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली
जो फूल जहाँ है,
जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल,
हे महा बुद्ध!
अर्पित करती हूँ तुझे।

अज्ञेय साफ कहते हैं कि फूल की अर्थवत्ता उसके डाली पर खिले रहने में ही है। उसे तोड़कर कहीं अर्पित कर देने में नहीं। अर्पण तो एक भाव-सत्य है। अपनी डाली पर खिला हुआ फूल देवता को वहीं से अर्पित किया जा सकता है। जीवन को अपनी पूर्णता तक जीने देना, विधाता की भी यही इच्छा होती है। महाबुद्ध तो महाकरूणा का प्रतीक है। वह भला कब चाहेगा कि कोई खिला हुआ पुष्प अपनी डाली से छिटक कर उसके चरणों में चढ़ाया जाएं। अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा है :-

करूणा के उस अजस्र
सोते की ओर दौड़ता रहा जहाँ से
सब कुछ होता जाता था, प्रतिफल
आलोकित,
रंजित।
दीप्त।
रहस्य वेष्टित
प्रभा-गर्भ
जीवनमय।

इन पंक्तियों में अज्ञेय की काव्य-यात्रा की दिशा की ओर इशारा है। सदा करूणा के उस अजसग सोते की ओर भागते रहना, जहाँ से सारी मानवीयता निःसृत होती है।

अज्ञेय के काव्य-संसार का एक बड़ा अंश प्रकृति के साथ तादात्म्य और साक्षात्कार का है। प्रकृति उनके लिए मात्र अपने चक्षु-गोचर सौन्दर्य के लिए ही काम्य नहीं है। उन्होंने सागर-मुद्राओं को अपने भीतर जिया है। पर्वतीय चोटियाँ उनके भीतर गहरा आकर्षण जताती हैं। सदानीरा नदियाँ, दुर्गम पर्वत, लहराते सागर, सघन वनानियाँ जीवन भर उनकी खोज का लक्ष्य बनी रहीं। एक स्थान पर उन्होने लिखा हैं : ''आह यह उल्लास, यह आनन्द, वह जाने बहा है सनसनाता पवन जिसकी लटों से छनकर''। परन्तु अज्ञेय की काव्य-यात्रा आगे बढ़ती है। वे उस अनुभूति तक पहुँचते हैं जहाँ :-

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरूषों के हर वैभव में ओझल
अपौरूषेय मिलता है।

यहाँ पहुँच कर अज्ञेय का कवि पूर्णतः अपने को विसर्जित करता प्रतीत होता है। उस सम्पूर्ण आत्मविर्सजन का स्वर 'असाध्य वीणा' में इस प्रकार फूटता है :-

श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था
स्वयं शून्य में-
वीणा के माध्यम से
अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था
सुना आपने
जो वह मेरा नहीं
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथताथी
महाशून्य, वह महामौन

अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अद्रवित, अप्रमेय,
जो शब्द हीन सब में गाता है।

अज्ञेय के काव्य का अनुशीलन और अद्घाटन एक श्रेष्ठ मनुष्य की पहचान और निर्माण की दिशा की ओर पाठक को प्रेरित करता है, उसके चित्त को संस्कारित करता है।

अज्ञेय के काव्य में अहं का विकास

अज्ञेय का व्यक्तित्व अपने प्रारम्भिक दौर में एक व्यष्टिमूलक व्यक्तित्व रहा है। वे अपने आत्मबोध को अधिक-से-अधिक महत्त्व देते रहे हैं। उनका यह मानना रहा है कि बिना अपनी आन्तरिक शक्तियों को पूर्ण रूप से विकसित किये, व्यक्ति न स्वयं की चरितार्थता सिद्ध कर सकता है, न समवाय का कल्याण कर सकता है। व्यक्ति के भीतर ईश्वर ने जिन सम्भावनाओं के बीच डाल रखे हैं, उनका पूर्ण 'विकास-प्रस्फुटन-विकसन-फलागम' होना ही चाहिए। जो व्यवस्था व्यक्ति के इस सम्पूर्ण विकास में अवरोध उत्पन्न करती है, वह अज्ञेय को स्वीकार्य नहीं नहीं है। सम्पूर्ण रूप से विकसित व्यक्तित्व ही किसी समृद्ध और सम्पुष्ट समवाय का निर्माण करते है। इस दृष्टि से व्यक्ति के आत्मतत्त्व का उचित विकास होना आवश्यक है। यह काम कौन करेगा? व्यक्ति स्वयं या समाज? अज्ञेय का मानना है कि सबसे पहले व्यक्ति में स्वयं यह आत्मविश्वास और आस्था होनी चाहिए कि वह अपने भीतर निहित शक्तियों का समुचित विकास करे। इस मान्यता को विभिन्न बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से अज्ञेय के प्रारम्भिक काव्य में व्यक्त किया गया है। बहुत से आलोचकों ने अपने पूर्वाग्रह के कारण इस दृष्टि को समझने से इन्कार कर दिया है। वे कहते रहे कि अज्ञेय एक अहंवादी कवि हैं। उनकी सम्पूर्ण सर्जना उन्हीं के अहं के इर्द-गिर्द चक्कर काटती रही है। यह आरोप अज्ञेय पर इतना जोरों से लगाया गया कि वे कभी-कभी इस आरोप के सन्दर्भ में गहराई से सोचते हुए दिखते हैं। अपनी एक कविता में वे स्वयं से पूछते हैं :-

अहं! अन्तर्गुहावासी! स्व-रति! क्या है चीन्हता कोई न दूजी राह?
जानता क्या नहीं निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह?
क्षुद्र नलकी में समाता है कहीं बेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज दीप्त प्रवाह!
जनता हूँ। नहीं सकुचा हूँ, कभी समवाय को देने स्वयं का दान,
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यष्टि का अभियान!

कान्ति अणु की है सदा गुरू, पुंज का सम्मान।
बना हूँ कर्त्ता, इसी से कहूँ-मेरी चाह, मेरा दाह, मेरा खेद और उछाः
मुझ सरीखी अगिन लीकों से, मुझे यह सर्वदा है ध्यान,
नयी, पक्की, सुगम और प्रशस्त बनती है युगों की राह!

(कितनी शान्ति! कितनी शान्ति, सदानीरा - पृष्ठ-211)

इन पंक्तियों के आलोक में अज्ञेय की अहं सम्बन्धी दृष्टि पर विचार करें तो साफ लगता है कि वे वह निर्भ्रान्त रूप से जानते, समझते और मानते हैं किम अहंवादिता या स्वरति का तत्त्व व्यक्ति के लिए सर्वथा अवांछनीय है। अपने में ही बद्ध होकर जीना कोई जीना नहीं है। वे कहते हैं कि 'मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह किसी क्षुद्र नलकी में नहीं समा सकता।' वे सर्वदा अपने स्वयं का दान समवाय को करने के लिए तत्पर रहते हैं। वे साफ शब्दों में कहते हैं कि उसके व्यष्टि का अभिमान कभी भी विश्वजन की अर्चना में बाधक नहीं बना। दूसरे शब्दों में व्यष्टि का अभिमान तो है परन्तु उस अभिमान के साथ ही वे विश्वजन की अर्चना भी करना चाहते हैं। प्रश्न उठता है कि यह विश्वजन कौन है? हम समाज-समाज कहते थकते नहीं हैं। अज्ञेय 'समाज' नहीं कहते हैं, 'समवाय' कहते हैं, 'विश्वजन' कहते हैं। क्या 'समवाय' से वही बोध होता है जो 'समाज' से होता है? मुझे लगता है 'समाज' शब्द बहुत से पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो गया है। उसमें कई स्वर ऐसे सन्निविष्ट हो गये हैं, जिनमें एक प्रकार की मैल आ गई है। विश्वजन में तो समवाय से भी अधिक विश्वजनीनता है। अज्ञेय अपने व्यक्ति को इसी समवाय और विश्वजन में विलीन करना चाहते थे। ये पंक्तियाँ

उन्होने सन् 47 में लिखी थीं। जब वे युवा थे।

परन्तु उनका व्यष्टिगत अहं यदि कुछ था तो किस प्रकार का था? उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'बावरा अहेरी'। उसकी इन पंक्तियों में हम उसकी एक झलक देख सकते हैं :-

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है:
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायेगा?
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा-शिरा छेद दे आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे :

(बावरा अहेरी, सदानीरा, पृष्ठ-254)

कवि मानता है कि उसके मन के विवर में कलौंस दुबकी हुई, छिपी हुई बैठी है, जो उसके मन को कालिमा मय कर रही है। परन्तु वह सूर्य से प्रार्थना कर रहा है कि वह अपनी किरणों की अनी से उस विवर में बैठी कलौंस को प्रकाशित कर दे। उसे वहाँ से निकाल कर छेद दे। वह कहता है कि अपने मन के सारे कपाटों को वह खोल रहा है जहाँ चेतना का सूर्य अपनी किरणों से उसके पूरे मानस को निष्कलुष बना दे, प्रकाशमान कर दे।

कवि को यह दम्भ नहीं है कि वह पूर्णतया निष्कलुष है या निरहंकारी है, परन्तु उसकी प्रार्थना यही है, उसका प्रयास यही है कि उसके मन के कोनों में बैठे इस अहंकार से वह मुक्त हो जाए। प्रवृत्ति उसकी अहं के विलयन और विस्तार की है। अपने अहं को समवाय में विसर्जित करने की है। वह अपने अहं को सहेज, समेट कर बचाये रखना नहीं चाहता है।

परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि आत्मतत्त्व और अहंभाव क्या ये दोनों एक ही हैं। आत्मबोध तो एक प्रकार की आस्था का आधार है। यदि यह आस्था नहीं है तो व्यक्ति अपनी पूर्णता की ओर बढ़ेगा कैसे? यदि वह अपूर्ण और अधूरा है तो उसका विसर्जन ही कितना अर्थवान् है? अज्ञेय की एक कविता है-'टेसू'। इस

कविता के माध्यम से कवि ने आस्था का एक अत्यन्त सहीव और सशक्त बिम्ब प्रस्ततु किया है :-

ग्रीष्म तो न जाने कब आयेगा!
लू के दुर्दम दुर्मद घोड़े पर वह अनलोद्भव अवतार-पुरूष
कब आकर धरती को तपायेगा।
उस ताप से जिससे वह तपःपूत, तपःकृशा
फिर माँग सके, सह सके, वह पावस की मिलन-निशा
जिसमें नव मेघदूत शावक-सा
आकर अदम्य जीवन के द्रावक सँदेशे से उसे हुलसायेगा-
ग्रीष्म तो न जाने कब आयेगा!

तब तक मैं उसका एक अकिंचन अग्र दूत
अपनी अखण्ड आस्था के साक्ष्य-रूप
मशाल जला दूँ-
न सही क्षयग्रस्त नगर में-
इस वन खण्डी में आग लगा दूँ।''

(टेसू, सदानीरा-1, पृष्ठ-266)

सन् चौवन में लिखी यह कविता अत्यन्त सशक्त बिम्ब-विधान का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'टेसू' एक प्रतीक है, व्यक्ति की आस्था का। वह ग्रीष्म की प्रतीक्षा नहीं करना चाहता ग्रीष्म जब आयेगा तो तपःपूत, तपःकृशा धरती को अपने ताप से तपायेगा। 'लू के दुर्मद, दुर्मद घोड़े पर सवार वह अनलोद्भव अवतार-पुरूष' जब उतरेगा तो उतरेगा। तब तो उसके ताप से आकाश से मेघ भी उतरेंगें, वर्षा भी होगी और धरती रसवन्ती हो उठेगी। परन्तु टेसू तो उस ग्रीष्म रूपी अवतार पुरूष की प्रतीक्षा नहीं करेगा। उसमें जो भी आग है उसी से वह एक छोटी-सी क्षयग्रस्त वनखण्डी में आग लगा देना चाहता है।

आस्था का यह ज्वलंत स्वरूप अज्ञेय के व्यक्ति-मानस की अत्यन्त सशक्त पूँजी है। इसी आस्था के बल पर वे हमेशा सन्नद्ध दिखते हैं। इसी आस्था के

ऊर्जस्वित रूप को ठीक से न समझने के कारण बहुत से लोग उन्हें अहंवादी घोषित करते हैं। परन्तु वे अपनी दृष्टि को एक दम निर्भ्रान्त रूप से प्रस्तुत करते हैं। उनकी कविता 'यह दीप अकेला' इसका ज्वलन्त उदाहरण है :-

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्वभरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा?
यह समिधा : ऐसी बाग हठीला विरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :

(यह दीप अकेला, बावरा अहेरी-पृष्ठ-54)

इस कविता में व्यष्टि का सम्पूर्ण विकास और उसका समष्टि में विर्सजन, यही दृष्टि पृथक्-पृथक् बिम्बों में व्यंजित है। सारे बिम्ब इतने समृद्ध हैं कि कविता बिम्बों का पुँज बन गई है।

कवि उस व्यष्टि को रेखांकित करना चाहता है, जिसका बहुत समय गफलत में तिरोहित हो गया है। परन्तु जब वह जागता है तो उस जागृति के क्षण को पकड़ना चाहता है। तुलसीदास ने लिखा है :-

अब लौं नसानी, अब ना नसै हों,
राम कृपा भवनिशा सिरानी
जागे फिर न डसै हों।

(विनयपत्रिका)

अज्ञेय लिखते है :-

बरसों की मेरी नींद रही।
बह गया समय की धारा में जो,
कौन मूर्ख उसको वापस मांगे?

मैं आज जाग कर खोज रहा हूँ
वह क्षण जिसमें मैं जागा हूँ।

यह भी एक अहं की अभिव्यक्ति है। परन्तु क्या यह अहंवाद है, जिसका अरोप अज्ञेय पर लगता रहा है। जो चेतना की इकाई अपनी सुषुप्ति को पहचानती है और जागृति को पकड़ना चाहती है, क्या वह व्यक्ति की सत्ता की अपरिहार्य घटक नहीं है?

अज्ञेय ने अपनी एक कविता में अहं की अद्‌भुत व्यंजना की है। कविता का शीर्षक है-'छन्द है यह फूल' :-

छन्द है यह फूल, पत्ती प्रास।
सभी कुछ में है नियम को साँस
कौन-सा वह अर्थ जिसकी अलंकृति कर नहीं सकती
यही पैरों तले की घास?
सर्मपण लय, कर्म है संगीत
टेक करूणा-सजग मानव-प्रीति।
यति न खोजो-अहं ही यति है।-स्वयं रण रणित होते
रहो, मेरे मीत,

(पूर्वा, पृष्ठ-253)

अहं के विषय में जो सतही धारणाएँ सामान्य रूप से प्रचलित हैं, उनसे हटकर अज्ञेय ने बहुत गहरे जा कर इस कविता में अहं को परिभाषित किया है। पैरों तले बिछी हुई घास के प्रतीक से उन्होंने अहं की पहचान की है। विनम्रता और समर्पण की पर्याय है यह पैरों तले की घास। किन्तु संसार के किसी भी अर्थ की अलंकृति का सामर्थ्य इसमें निहित है। कवि कहता है कि कोई दूसरी यति खोजने की ज़रूरत नहीं है, अहं ही यति है। परन्तु इस अहं की लय समर्पण है। इसका संगीत कर्म है। इसकी टेक, करूणा है। यह अहं मानव प्रीति के लिए सदा जागृत है। इसलिए कवि कहता है कि मेरे मीत स्वयं रण-रणित होते रहो। स्वयं का स्वयं से निरन्तर टकराव ही इस अहं का धर्म है। अज्ञेय ने जैसे अहं से जूझने का ही संकल्प ले रक्खा है। परन्तु यह जूझने वाला भी तो अहं ही है।

अज्ञेय की एक कविता है 'प्रातः संकल्प'। उसका अविकल रूप निम्न है :-

ओ आस्था के अरूण!
हाँक ला
उस ज्वलंत के घोड़े।
खूँद डालने दे
तीखी आलोक-कशा के तले तिलमिलो पैरों को
नभ का कच्चा आँगन!

बढ़ आ, जयी!
संभाल चक्र मण्डल यह अपना।

मैं कहीं दूर :
मैं बँधा नहीं हूँ
झुकूँ, डरूँ,
दूर्वा की पत्ती-सा
नतमस्तक करूँ प्रतीक्षा
झंझा शिर पर से निकल जाय!
मैं अनवरूद्ध, अप्रतिहत, शुचस्नात हूँ
तेरे आवाहन से पहले ही
मैं अपने को लुटा चुका हूँ :
अपना नहीं रहा मैं,
और नही रहने की यह बोध-भूमि
तेरी सत्ता से, सार्वभौम! है परे,
सर्वदा परे रहेगी।
'एक मैं नही हूँ'-
अस्ति दूसरी इससे बड़ी नहीं है कोई ।

इस मर्यादातीत
अधर के अन्तरीप पर खड़ा हुआ मैं

आवाहन करता हूँ :
आओ, भाई!
राजा, जिसके होंगे, होंगे :
मैं तो नित्य उसी का हूँ जिसको
स्वेच्छा से दिया जा चुका!

(प्रातः संकल्प, कितनी नावों में कितनी बार, पृष्ठ-6-7)

'एक मैं नही हूँ अस्ति इससे बड़ी नहीं है कोई' इस पंक्ति में जीवन के अर्थ को आत्मविर्सजन में ही खोजा और पाया गया है। जिसने पहचान लिया कि विर्सजन ही सबसे बड़ा सत्य है-अहं का विर्सजन-उसी ने जीवन को सच्चे अर्थो में पा लिया है।

अज्ञेय की काव्यानुभूति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है आत्मदान। यह आत्मदान नाना रूपों में व्यंजित हुआ है। कहीं यह शुभाशंसा बन कर झरता है, कहीं किसी विराट् के समक्ष अपने को न कुछ के रूप में प्रस्तुत करता है। कहीं यह सागर की बूँद बनकर व्यंजित होता है, कहीं समय-प्रवाह में क्षण बनकर। अनेक अर्थ-छवियों के साथ यह आत्मदान झाँकता है। कहीं यह मृत्यु में अमरत्व बना दिखता है, कहीं वायुमण्डल की सुगन्ध के रूप में व्याप्त होता है। अज्ञेय की एक कविता है-

'होते हैं क्षण' :-
होते हैं क्षण : जो देश-काल-मुक्त हो जाते हैं।
होते हैंः पर ऐसे क्षण हम सब दुहराते हैं?
या क्या हम लाते है?
उनका होना : जीना, भोगा जाना
हैं स्वैर-सिद्ध, सब स्वतः पूर्त्त।
-हम इसी लिए तो गाते हैं।

(सदानीरा-1, पृष्ठ-193)

जीवन के वे क्षण जो हमें अमरता की अनुभूति सें भर देते हैं, स्वयं हमारे जीवन में अवतरित होते हैं, घटित होते हैं। हम उनको लाते नहीं हैं। वे स्वयं हमारे जीवन में उतरते हैं। अतः उन क्षणों की मूल्यवत्ता के स्रष्टा हम नहीं हैं। कवि अपने स्रष्टा भाव का सम्पूर्ण प्रत्याख्यान करते हुए कहता है :-

हम हुए, यही बस,
नाम हीन हम, विर्विशेष्य,
कुछ हमने किया नहीं।

(हम कृति नहीं है, सदानीरा-1, पृष्ठ-309)

कवि कहता हैं कि उसने मानव होने की पीड़ा का एक नया स्तर खोला है। उसने मात्र अपने अनुभव को नाम दिया है। वह कृती नहीं है। अज्ञेय की कविता में अहं का प्रत्याख्यान करने वाली कविताओं की भरमार है। कैसे उन्हें अहंवादी कहा जा सकता है?

आत्मदान का एक अत्यन्त उदात्त स्वर 'ब्रह्म-मूहर्तः स्वस्तिवाचन' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है :-

जियो उस प्यार में
जो मैं ने तुम्हें दिया है,
उस दुःख में नहीं जिसे
बेझिझक मैं ने पिया है।
x x x
सागर के किनारे तक
तुम्हें पहुँचाने का
उदार उद्यम ही मेरा हो :
फिर वहाँ जो लहर हो, तारा हो,
सोन-तरी हो, उरूण सवेरा हो,
वह सब, ओ मेरे वर्ग!
तुम्हारा हो, तुम्हारा हो, तुम्हारा हो।

(सदानीरा-1, पृष्ठ-311)

शुभाशंसा का यह स्वर अपने अहं को विसर्जित कर देने पर ही सम्भव है। अपने लिए नहीं अपनी आने वाली पीढ़ी के लिए अपने संघर्षों से बनी राह को समर्पित कर देना ही कवि का उद्देशय है। अहं का सबसे बड़ा लक्षण होता है टकराहट। परन्तु विसर्जित अहं कहीं किसी से टकराता नहीं। वह सदा दूसरों के लिए राह बनाता चलता है। अज्ञेय के काव्य में इस विसर्जित अहं की अभिव्यक्ति नाना रूपों में लक्षित होती है।

अज्ञेय के काव्य में एक सतत् प्रयास है अपने अहं को गलाने का। ऐसा नहीं कि उनमें अहं का तत्त्व था ही नहीं। प्रारम्भ मं उनमें स्पष्ट रूप से अहं का विस्फोट दिखता है, परन्तु जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते हैं उनकी यात्रा अहं के विस्फोट से अहं के विर्सजन की ओर बढ़ती है। एक कविता है-'गलाई' :-

चाहता हूँ कि मुझे मैं
एक दूसरे सांचे में ढालूँ।
पर भट्टी तो तुम्हारी है।
इस पुरानी मूर्ति को
गला दोगे?
गलाई क्या लोगे?
-मूर्ति!

(ऐसा कोई घर आप ने देखा है)

कवि अपने को नयी संरचना में ढालना चाहता है। पुरानी मूर्ति को गलाना चाहता है। प्रभु से प्रार्थना करता है कि वह उसकी पुरानी मूर्ति को गला दे और गलाई में चाहे तो मूर्ति ही ले ले। सम्पूर्ण व्यक्तित्वान्तर के लिए तत्परर है कवि। अहं का विस्तार और विर्सजन और अन्ततः एक नये व्यक्तित्व की रचना। यह पूरी यात्रा अज्ञेय सम्पन्न करते हैं।

कवि निरन्तर अपने नये व्यक्तित्व की तलाश करता है। वह कहता है :-

जब तक नहीं पा लूँगा अपने से इतर अपने को
कैसे होगी मुझे अपनी भी पहचान?

अपने को अपने से इतर में पा लेने की कोशिश, यही तो है अहं का विसर्जन। अपने स्वरूप की पहचान तभी सम्भव है। विसर्जित अहं के स्वरूप और उसकी आनन्ददायी परिणति को अज्ञेय ने कहीं-कहीं बहुत ही सार्थक प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है। एक छोटी-सी कविता है-'मैं देख रहा हूँ' :-

मैं देख रहा हूँ
झरी फूल से पंखुरी
मैं देख रहा हूँ अपने को ही झरते।
मैं चुप हूँ
वह मेरे भीतर वसन्त गाता है।

(सदानीरा-2, पृष्ठ-28)

फूल से पँखुरी के झरने को देखने में ही कवि स्वयं को झरते हुए अनुभव करता है और उस अनुभूति का तादात्म्य उस आनन्दानुभूति से हो जाता है जो वसन्त के गान से उपजती है। अहं के विसर्जन की सच्ची परिणति वह आनन्दानुभूति ही है।

इसी से मिलती-जुलती अनुभूति एक दूसरी कविता में स्वरित होती है :-

चुप-चाप चुप-चाप
झरने का स्वर
हम में मर जाये

चुप-चाप चुप-चाप
जीवन
जो कहा न जाय, हमारी
ठहरी आँखो में गहराय,

चुप-चाप चुप-चाप
हम पुलकित विराट् में डूबें
पर विराट् हममें मिल जाय-
चुप-चाप चुप-चाप.....

(चुप-चुपा, सदानीरा-2, पृष्ठ-31)

विराट् से तादात्म्य का यह धरातल तभी उपलब्ध होता है, जब हम अपने को पूर्णतः शून्य कर लेते हैं। इस भाव को अज्ञेय अनेकानेक बिम्बों और प्रतीकों से अभिव्यक्त करते हैं। अपने क्षुद्र और सीमित अहं को विसर्जित करके ही हम एक विराट् सत्य के प्रति समर्पित और उससे एकात्म होते हैं। उस धरातल पर न अहं रहता है, न घर रहता है, न अपनेपन का मोह रहता है :-

कोई अपना नहीं, कि केवल सब अपने हैं।

कवि अपने अहं को गलाने वाला स्वयं है। वह कहता हैं : ''मैं ही वह वनानल हूँ जिसमें मैं अनुपल जलता हूँ।''

(सदानीरा-2, पृष्ठ-314)

अज्ञेय का व्यष्टि-बोध

अज्ञेय को अधिकांश आलोचकों ने व्यक्तिवादी साहित्यकार घोषित किया है। स्वयं अज्ञेय अपनी कविताओं, उक्तियों और चिन्तनपरक लेखों में इसका पर्याप्त अवसर देते हैं कि उन्हें व्यक्तिवादी साहित्यकार घोषित किया जा सके। परन्तु जब हम गहराई से अज्ञेय के व्यष्टि-बोध की परख करते हैं तो हमें साफ़ दिखता है कि अज्ञेय का व्यष्टि-बोध उनके समष्टि-बोध का विरोधी नहीं है। पूरक भी नहीं है। समष्टि उनकी दृष्टि में व्यष्टि की ही परिणति है। फिर भी वे व्यष्टिवादी हैं, तो क्यों? उन्हीं के शब्दों में :-

व्यक्ति सर्जक होता है, सृष्टि करता है।
क्या समाज भी सर्जनशील होते हैं, सृष्टि करते हैं?
अगर करते हैं तो समाज में नियामक कौन होता है?

(शाश्वती, पृष्ठ-11)

अज्ञेय व्यक्ति की सर्जनशीलता की बात करते हैं। केवल सर्जना तक ही व्यक्ति का मूल्य नहीं है। व्यक्ति स्पन्दित होता है। व्यक्ति ही करूण या अकरूण होता है। व्यक्तियों का समवाय ही तो समाज है। अज्ञेय ने व्यष्टि ने व्यष्टि एवं समष्टि के अन्तःसम्बन्धों को प्रमुख रूप से तीन आयामों में देखा है: व्यक्ति और समाज, शब्द और भाषा तथा क्षण और काल प्रवाह। तीनों आयामों में उन्होंने इकाई की महत्ता को स्वीकार किया है। समाज के सन्दर्भ में व्यक्ति की, भाषा के सन्दर्भ में

शब्द की और काल के सन्दर्भ में क्षण की। अज्ञेय की अन्तर्वेधी दृष्टि ने इन तीनों आयामों की अपने सर्जनात्मक साहित्य में गहरी व्यंजनाएँ प्रस्तुत की हैं।

व्यक्ति और समाज

जिस युग में अज्ञेय ने अपनी रचना-यात्रा तय की है, उसमें समाज के नाम पर अनेक आन्दोलन हुए, क्रांतियाँ हुईं और सत्ताएँ पदच्युत हुईं। समाज के नाम पर शासन-तंत्र स्थापित हुए। व्यक्तियों का दमन हुआ, परन्तु सिवाय एक क्रूर और दमनकारी व्यवस्था के हासिल कुछ नहीं हुआ। इसी प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर एक ऐसा प्रतिस्पर्द्धा एवं प्रतिद्वन्द्विता मूलक समाज बनाया गया, जिसमें सत्ता और अर्थ मात्र कुछ व्यक्तियों के हाथ में सिमट गऐ, जिसका उन्होंने मनमाना उपयोग किया। बीसवीं शती का आधे से अधिक समय व्यष्टि एवं समाज के इसी द्वन्द्वात्मक संघर्ष में निकल गया। अज्ञेय ने इस द्वन्द्वात्मकता के भयानक परिणामों को न केवल भारतीय सन्दर्भ में बल्कि समूचे विश्व का एक बड़ा अंश व्यष्टि एवं समष्टि के बीच के अभेअ को पहचानने और में होम हुआ।

अपनी प्रसिद्ध कविता 'यह दीप अकेला' में उन्होंने लिखा है :-

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मद माता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह पूरी कविता व्यष्टि के महिमा मण्डित और सम्पूर्ण रूप से विकसित स्वरूप को समष्टि में विसर्जित कर देने की कविता है।

इसी कविता में अज्ञेय कहते हैः 'यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा'। लघुतम इकाई के आत्मविश्वास का आख्यान करते हुए भी कवि उसकी सार्थकता समष्टि में विसर्जित हो जाने में मानता है। व्यक्ति का उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं तक विकास तथा उसका समवाय के लिए समर्पण। यही है अज्ञेय का व्यष्टि-समष्टि बोध। समाज के नाम पर व्यक्ति के दमन के वे पक्षधर नहीं हैं। जब व्यक्ति ही नहीं विकास करेगा तो वैसे अविकसित व्यक्तियों के समुच्चय से बना समाज कैसे विकसित और समुन्नत बन सकेगा? एक कविता में अज्ञेय कहते हैं :-

तुम्हें किसने कहा था, मेरे भाइयों
कि तुम अधूरे और अतृप्त मर जाओ?
मैं तुम्हारे साथ जिया हूँ तुम्हारे साथ मैंने कष्ट पाया है,
यातनायें सही हैं,
किन्तु तुम्हारे साथ मैं मरा नही हूँ।

(मैं तुम्हारा प्रतिभू हूँ, सदानीरा भाग-2, पृष्ठ-285)

अज्ञेय का पूरा आग्रह व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास पर है और यह विकास व्यक्ति के आत्मविश्वास, जिजीविषा और यातना सहन करने की क्षमता पर निर्भर है। वह किसी की दया और दान से प्राप्त विकास नहीं है। एक दूसरी कविता में अज्ञेय लिखते है :-

भीड़ का मत हो
डटा रह
मगर दिग्विद् पान्थ के समुदाय से
तू अकेला मत छूट

यह कविता अज्ञेय के व्यष्टि-बोध का अप्रतिम आख्यान है। जहाँ एक ओर वह उस संकल्प को फूँकती है जो किसी भी भीड़ से आक्रान्त न होकर अकेले खड़े होने की अपेक्षा करती है, तो दूसरी ओर दिग्विद् पान्थ के समुदाय का सहयात्री बने रहने का भी आह्वान करती है। यह एकाकी, समुन्नत, संकल्पवान व्यक्ति की उस समाज से एकात्मता है जिसे दिशा का बोध हो।

अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' व्यक्ति और समाज के अन्तःसम्बन्धों की श्रेष्ठ कविता है। इस कविता में व्यक्ति एवं समाज को जोड़ने वाली तीसरी धारा का भी आख्यान है जो संस्कृति की धारा है। जो दोनों के अन्तस्तल में प्रवाहित है।

नदी माँ है। द्वीप पुत्र है। तट का भूखण्ड पिता है। नदी संस्कृति है। द्वीप व्यक्ति है। भूखण्ड समाज है। पूरी कविता इस प्रकार है :-

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हम को छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाये।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।

माँ है वह! है, इसी से हम बने हैं।

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं। स्थिर समर्पण है हमारा!
हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढ़हेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह बृहद् भूखण्ड से हमको मिलाती है।
और वह भूखण्ड अपना पितर है।

नदी, तुम बहती चलो।
भूखण्ड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
मँजती, संस्कार देती चलो :
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से, या दूसरों के किसी स्वैराचार से- अतिचार से-

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे,
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर काल
-प्रवाहिनी बन जाय।
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। हमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर से खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकरा।

मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना''।

(नदी के द्वीप, हरी घास पर क्षण भर)

व्यक्ति, समाज और संस्कृति के अन्तःसम्बन्ध की यह अत्यन्त ही सारगर्भित व्यंजना है। व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता, समाज को पितर रूप में व्यक्ति द्वारा देखा जाना और संस्कृति को माँ रूप में स्वीकारना सम्बन्धों का ऐसा आयाम है, जिसमें किसी प्रकार का अन्तर्विरोध सम्भव नहीं है। यही है अज्ञेय की व्यक्ति और समाज के रिश्तों की समझ। इससे भिन्न कोई निष्कर्ष निकाल पाना न सम्भव है, न समीचीन।

अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के रिश्तों को समझने की कोशिश शिद्दत से और अनेक सन्दर्भो में की है। वे लिखते है :-

''व्यक्ति और समाज को मुकाबिले में खड़ा कर देना एकदम नाकाफ़ी है। व्यक्ति-समाज है, परिवार-समाज है और ग्राम-समाज है। सांस्कृतिक आधार को ध्यान में न रखकर 'व्यक्तिवाद और समाजवाद' की चर्चा करना केवल भ्रम फैलाना है। हर सभ्यता या संस्कृति में कुछ आधारभूत सिद्धान्त होते हैं। कुछ प्रतिष्ठित मूल्य होते हैं। चीन मे परिवार का आर्दश रहा, यूरोप में व्यक्ति का, भारत में ग्राम-समाज का। यूरोप में स्वातंत्र्य का अर्थ व्यक्ति-स्वातंत्र्य अधिक है, अन्यत्र व्यक्ति-स्वातंत्र्य को उतना या वैसा बुनियादी महत्त्व नहीं दिया जाता। . . .भारत में समाज-संगठन का (और इसलिए स्वातंत्र्य का भी!) आधार ग्राम रहा है।''

(भवन्ती, पृष्ठ-51)

इस प्रकार अज्ञेय के लिए कहीं भी व्यक्ति और समाज का सवाल परस्पर विरोध का नहीं रहा। न उनके सृजन में, न उनके चिन्तन में।

अज्ञेय ने व्यक्ति को अस्तित्व की उस इकाई के रूप में देखा है, जो निरन्तर अपने को समृद्ध करते हुए अपने को समाज के लिए, समवाय के लिए होम कर रही है। अज्ञेय की ही कविता की कुछ पंक्तियों से इस प्रसंग को समाप्त कर रहा हूँ :-

मैंने छुआ है, और मैं छुआ गया हूँ,
मैंने चूमा है और मैं चूमा गया हूँ,
मैं विजेता हूँ और मुझे जीत लिया गया है,
मैं हूँ और मैं दे दिया गया हूँ,
मैं जिया हूँ, मैं पराभूत हूँ, मैं आत्मसात् हूँ,
अमर्त्य, कालजित हूँ।

(ओ निस्संग ममेतर, कितनी नावों में कितनी बार, पृष्ठ-23)

अज्ञेय का व्यक्तित्व ऐसा ही है- आत्मचेतन् और आत्म विसर्जित।

क्षण और काल प्रवाह

अज्ञेय के साहित्य में क्षण की चर्चा जगह-जगह बिखरी हुई है। इसी कारण सतह पर लोगों को भ्रम होता है कि अज्ञेय क्षणवादी हैं। कोई-कोई तो और आगे बढ़ कर उन्हें क्षणजीवी भी कहते हैं। पश्चिम में अस्तितवादी दार्शनिकों ने क्षणवाद का दर्शन चलाया है। बहुत से लोगों ने उन्हे पश्चिम से प्रभावित और सार्त्र का अनुगामी कहा है। ये सारी धारणाएँ सतही हैं। अज्ञेय की दृष्टि में क्षण काल की इकाई है, वैसे ही जैसे व्यक्ति समाज की इकाई है। अज्ञेय ने अपने सम्पूर्ण सर्जनात्मक साहित्य में तो जीवन्त, जीवनपूर्ण क्षण को रचने का प्रयास किया ही है, अपने चिन्तनपरक लेखों में भी क्षण का अभिप्राय व्यक्त किया है।

क्षण उनके लिए जीवित अनुभव का पूँजीभूत सत्य है। ऐसे अनुभूति-सम्पुजित क्षणों से ही वे जीवन को, समय को मापते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय

ने एक स्थान पर लिखा है, ''हम समय की माप दिन और रात से या घड़ी से करते हैं। क्षणों में ही जो युग बीत जाते हैं और युगों तक जो क्षण वैसे ही बने रहते हैं, उन्हें हम नहीं देखते।'' वास्तव में अज्ञेय सदा उस अनुभव को महत्त्व देते हैं, जो किन्हीं क्षणों में पूँजीभूत होकर व्यक्ति के अस्तित्व को गहरा अर्थ देता है। वैसे ही क्षण, अनुभूति-संवलित क्षण अज्ञेय की दृष्टि में काल की इकाई हैं। अज्ञेय की कविता है :-

होते हैं क्षण : जो देश-काल मुक्त हो जाते हैं।
होते है : पर ऐसे क्षण हम कब दुहराते हैं?
या क्या हम लाते हैं?
उनका होना, जीना, भोगा जाना
है स्वैर-सिद्ध, सब स्वतःपूर्त।
-हम इसीलिए तो गाते हैं

(सदानीरा भाग-दो, पृष्ठ-193)

अज्ञेय जब क्षण की बात करते हैं तो उनकी दृष्टि में ऐसे ही स्वैर-सिद्ध, स्वतः पूर्त, देश-काल मुक्त क्षण होते हैं जो जीवन को महत्तर अर्थ दे जाते हैं। इन्हीं क्षणों को जो जितना जी सके, वह समय को उतना ही जीता है। ऐसे क्षण हमारे जीवन में सिद्धि बन कर अवतरित होते हैं। ऐसे क्षणों की परिभाषा अज्ञेय ने अनेक स्थलों पर अलग-अलग सन्दर्भों में की है। वह लिखते हैं :-

सत्य का सुरभिपूत स्पर्श हमें मिल जाय क्षण भर :
एक क्षण उसके आलोक से सम्पृक्त हो विभोर हम हो सकें-
x x x x
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें-
उसकी विविक्त अद्वितीयता आपको, किममि को, क ख ग को
अपनी-सी पहचनवा सके, रसमय करके दिखा सके-
शाश्वत हमारे लिए वही है, अजिर अमर है
वेदितव्य अक्षर है।

एक क्षणः क्षण में प्रवहमान व्याप्त सम्पूर्णता।
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधिजो पिया था अगस्त्य ने।
एक क्षण! होने का, अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण।
होने के सत्य का, सतय के साक्षात् का साक्षात् के क्षण का-
क्षण के अखण्ड का परावार का
आज हम आचमन करते हैं"।

(नयी कविता : एक सम्भाव्य भूमिका, सदानीरा भाग-2, पृष्ठ-281)

अज्ञेय ऐसे ही सत्य के साक्षात् के क्षणों के महत्त्व का आख्यान अपने साहित्य में बारम्बार करते हैं। ऐसे ही क्षणों के परावार का वे आचमन करते हैं। काल-प्रवाह ऐसे ही क्षणों का परावार है। ऐसे क्षण जीवन में अनेक प्रकार के अनुभवों के बीच हमारे पास आते हैं। प्रेम में, विरह में, आत्मदान में, संकल्प में, युद्ध में नाना प्रकार के पराकाष्ठापूर्ण प्रसंगों में। ऐसे ही एक प्रसंग की व्यंजना निम्न पंक्तियों में होती है :-

झील का निर्जन किनारा
और वह सहसा छाये सन्नाटे का
एक क्षण हमारा।
वैसा क्षितिज पर सहमी-सी बिजली
वैसी कोई उत्ताल लहर और नहीं आयी
न वैसी मदिर बयार कभी चली।

वैसी कोई शक्ति अकल्पित और अयाचित
फिर हम पर नहीं छायी।
वैसा कुछ और छली काल ने
हमारे सटे हुए लिलारों पर नहीं लिखा।

वैसा अभिसिंचित, अभिमंत्रित,
सघनतम, संगोपन कल्पान्त

दूसरा हमने नहीं जिया।
वैसी शीतल अनल-शिखा।
न फिर जली, न चिरकाल पली,
न हमसे संभली।

या कि अपने को उतना वैसा
हम ने दुबारा नहीं दिया?

(झील का किनारा, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-15)

प्रेम की सघनतम अनुभूति के विरल क्षण की एक जीवन्त आलोकमयी स्मृति। इतने पूँजीभूत, संगोपन, अभिसिंचित, अभिमंत्रित क्षण जीवन में विरल ही होते हैं। परन्तु वे ही तो जीवन को अर्थ देते हैं। अज्ञेय की पूरी काव्य-यात्रा प्रेम के ऐसे सघनतम क्षणों की व्यंजना से परिपूर्ण है। अपनी एक कविता में अज्ञेय सर्जना के क्षण की बात करते है। कैसा होता है सर्जना का क्षण?

एक क्षण भर और रहने दो मुझे अभिभूत :
फिर जहाँ मैंने सँजो कर और भी सब रखी हैं ज्योति : शिखाएँ
वहीं तुम भी चली जाना-शान्त तेजो रूप।

एक क्षण भर और :
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूँद स्वाती की भले हो, बेधती है मर्म सीपी का उसी मिर्मम त्वरा से
वज्र जिससे फोड़ता चट्टान को
भले ही फिर व्यथा के तम में बरस पर बरस बीते।
एक मुक्ता रूप को पकते।"

(सर्जना के क्षण, सदानीरा-भाग-1, पृष्ठ-305)

सर्जना का क्षण एक विद्युन्निपात जैसा होता है। सृजन कवि-चेतना में कौंध जाता है। उसे अन्तिम आकार प्राप्त करने में कभी-कभी वर्षों लग जाते हैं, वैसे ही जैसे स्वाती की बूँद को सीपी के गर्भ में पक कर मोती बनने में एक लम्बा समय लगता है।

अज्ञेय जिस क्षण की बात करते हैं, वह निश्चित ही अनुभूति का, चिन्तन का, स्वप्न का एक सघनतम क्षण है। ऐसे घनीभूत क्षणों से फलीभूत समय ही सार्थक काल-प्रवाह है अथवा काल-प्रवाह में ऐसे सार्थक क्षणों का ही वास्तविक महत्त्व है। यह दृष्टि क्षण जीविता की दृष्टि नहीं है। यह दृष्टि जीवन के सम्पूर्ण क्षणों को सार्थक-अनुभवों से सम्पन्न करने वाली दृष्टि है।

समय हमारे हाथ से निकलता जाता है, बहता जाता है। बचा रहता है वह घनीभूत अनुभव, (अनुभव की स्मृति) जो हमारे जीवन में घटित हुआ था। वह अनुभव जितना मूल्यवान और अर्थवान होता है, उसे वहन करने वाला क्षण या क्षण-प्रवाह अर्थात् वह काल खण्ड भी उतना ही मूल्यवान होता है। अज्ञेय उसी अनुभव संम्पृक्त क्षण को अपनी सर्जना का, अपनी रचना का प्राण तत्त्व मानते हैं। ऐसे सम्पन्न क्षणों से बना हुआ समय ही मूल्यवान होता है।

हम जब उन मूल्यवान क्षणों की महत्ता को आत्मसात करते हैं तो अनजाने प्रत्येक क्षण को मूल्यवान अनुभवों से सम्पूरित करने की प्रेरणा से युक्त होते हैं।

शब्द, भाषा और मौन

अज्ञेय के व्यष्टि-बोध को उनकी शब्द-चेतना से जोड़ कर भी समझा जा सकता है। अज्ञेय एक भाषा-चेतना साहित्यकार हैं। वैसे तो सभी रचनाकार भाषा-चेतन होते है, परन्तु अज्ञेय में यह भाषा-चेतना अत्यंत गम्भीर है। वे एक भी शब्द का प्रयोग असावधानी से नहीं करते हैं। वे मानते हैं कि रचनात्मक भाषा की समस्या वास्तव में सर्जनात्मक शब्द के सन्धान की समस्या है। सर्जनात्मक शब्दों के सन्धान के अनेक पक्ष हैं। रूढ़ अर्थ वाले शब्दों में नये अर्थ की स्थापना, नये अप्रचलित शब्दों को विशिष्ट अर्थ-भंगिमा से लैस करना। शब्दों का नया-नया विन्यास देना। अज्ञेय मानते हैं कि रचनाकार की वास्तविक समस्या शब्द-संधान की समस्या है। भाषा तो समष्टि है, जो शब्द रूपी व्यष्टि की परिणति है। वे लिखते हैं :-

''केवल सही शब्द मिल जायें तो लेखक के नाते, और उससे भी अधिक कवि के नाते मैं अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है। मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ निःसंदेह लेकिन

कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं केवल शब्दो के द्वारा। मेरे लिए यह भेद गहरा महत्त्व रखता है।"

(शब्द, मौन, अस्तित्व, सर्जना और सन्दर्भ, पृष्ठ-189)

उसी लेख में अज्ञेय आगे जोड़ते है :-

"जिस किसी ने भी अच्छा काव्य पढ़ा है उसने लक्ष्य किया होगा कि कवि शब्दों का न केवल भरपूर सार्थक प्रयोग करता है, बल्कि कभी-कभी शब्दों या वर्णों का उपयोग न करके ही अर्थ की वृद्धि करता है-यानी शब्दों का ही अर्थगर्भ उपयोग नहीं, अर्थगर्भ मौन का भी उपयोग करता है। मुझे हमेशा लगा है कि यही भाषा का श्रेष्ठ कलात्मक उपयोग है-जिसमें न केवल शब्दों के निहित और सम्भाव्य अर्थों का पूरा उपयोग किया जाता है।" (वही)

इस प्रकार शब्द, भाषा और मौन के अविभाज्य अन्तःसम्बन्ध को अज्ञेय अत्यन्त बारीकी से निरूपित करते हैं। वे लिखते हैं-'कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है।' मौन के द्वारा भी गहरे सम्प्रेषण की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। अज्ञेय की एक कविता है :-

मुझे तीन दो शब्द कि मैं कविता कह पाऊँ।
एक शब्द वह जो न कभी जिह्वा पर लाउँ।
और दूसरा : जिसे कह सकूँ
किन्तु दर्द मेरे से जो ओछा पड़ता हो।
और तीसरा : खरा धातु पर जिसको पाकर पूछूँ
क्या न बिना इसके भी काम चलेगा? और मौन रह जाऊँ।

(सदा नीरा भाग-1, पृष्ठ-284)

इस कविता में शब्द, भाषा और मौन के अतःसम्बंध का ही आख्यान नहीं है, वरन् मौन के सर्वोपरि होने का भी स्वीकार है।

अज्ञेय शब्द की महत्ता की बात को अनेक प्रकार से व्यंजित करते हैं। जहाँ उनकी कविताओं में यह बात अत्यन्त सूक्ष्म धरातल पर व्यक्त हुई है, वहीं अपने लेखों में बेहद स्पष्ट रूप से इसे व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं-

"शब्दों की सम्प्रेषण-शक्ति को विक्षत करके हम भाषा-संसार को ही नहीं अपने चिन्तन-संसार को भी विदूषित करते हैं। अपनी विचार-शक्ति को पंगु करते हैं। और दिन-ब-दिन अधिक गूँगे होते जाते हैं। किसी एक भाषा में मुखर न हो सकने पर दो या तीन भाषाओं में अध-गूँगे हो जाना कोई उपलब्धि नहीं है।"

(सर्जना और सन्दर्भ, पृष्ठ-358)

अज्ञेय के काव्य-संसार में शब्द और सत्य के रिश्तों की व्यंजना भी अत्यन्त निगूढ़ स्तर पर हुई है। अज्ञेय मानते हैं कि कवि के निकट शब्द भी रहता है और सत्य भी। परन्तु समस्या इन दोनों के एकात्म होने की होती है :-

यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था।
यह नहीं कि मुझ को शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है :
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं।
प्रश्न यही रहता है :
दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते हैं
मैं कब, कैसे, उनके अनदेखे
उस में सेंध लगा दूँ
या भरकर विस्फोटक
उसे उड़ा दूँ?
कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें,
प्रयोजन मेरा बस इतना है :
ये दोनों जो
सदा एक-दूसरे से तन कर रहते हैं,
कब, कैसे किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ-
दानों जा हैं बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे।

(शब्द और सत्य, सदानीरा भाग-1, पृष्ठ-315)

एक कवि के लिए सर्जनात्मक शब्द क्या है, इसका आभास उक्त कविता से हो सकता है। अज्ञेय उसी सर्जनात्मक शब्द के खोजी, सन्धाता और आविष्कर्त्ता हैं। सारा जीवन उन्होंने उसी सर्जनात्मक शब्द की तलाश की है। इसीलिए नरेश मेहता उन्हें शब्द-पुरूष कहते हैं। परन्तु अज्ञेय शब्द-पुरूष हैं तो उतना ही भाषा-पुरूष भी हैं। मौन भी उनकी भाषा है। हिन्दी के साहित्यकारों में मौन की महिमा का आख्यान अज्ञेय से अधिक किसी दूसरे कवि ने नहीं किया है। उनकी कविताओं में इस मौन की सार्थकता को अनेक प्रकार से व्यक्त किया गया है। एक कविता में अज्ञेय लिखते है :-

शब्द सूझते हैं जो गहराइयाँ टोहते हैं
पर छन्दों में बँधते नहीं,
बिम्ब उभरते हैं, जो मुझे ही मोहते हैं,
मुझ से सधते नहीं,
एक दिन होगा!-तुम्हारे लिए लिख दूँगा
प्यार कर अनूठा गीत,
पर अभी मैं मौन में निहाल हूँ-
गाना गुनगुनाना नहीं चाहता।

(एक दिन, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, पृष्ठ-95)

मौन अज्ञेय के सर्जनात्मक व्यक्तित्व का एक अपरिहार्य घटक है। उसे वे सृजन में तो साधते ही हैं, जीवन में भी साधते हैं। एक कविता में वे लिखते है :-

पर सबसे अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ-
क्योंकि वही मुझे बतलाता हे कि मैं कौन हूँ,
जोड़ता है मुझ को विराट् से
जो मौन, अपरिवर्त है, अपौरूषेय है
जो सबको समोता है।

(चक्रान्त शिला-2, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-34)

अज्ञेय की कविता-यात्रा शब्द से भाषा और भाषा से मौन की ओर हुई है। अपने जीवन के अन्तिम चरण में लिखी उनकी यह छोटी कविता मौन के प्रति उनके आकर्षण को निर्भ्रान्त रूप से व्यक्त करती है :-

खुला हुआ हूँ मैं वन-सा
वन-सा मैं बन्द हूँ।
शब्द में मेरी समाई नही है
मैं/सन्नाटे का छन्द हूँ।

अज्ञेय की प्रणयानुभूति

अज्ञेय के काव्य का और उनके जीवन का भी केन्द्रीय प्रेरक तत्त्व प्रेम रहा है। प्रेम को उन्होंने शत-शत रूपों में जाना और जिया है और सिरजा है। प्रेम उनके लिए उल्लास और आह्लाद, सुगन्ध और रंग, समर्पण और विसर्जन, वेदना और आनन्द रहा है। अनुभूति की सघनतम् पहचान रहा है। प्रेम ने ही उन्हें जीना सिखाया और प्रेम ने ही उन्हें मरण का अर्थ बतलाया। प्रेम ने उन्हें समवाय के साथ एकात्म किया। त्याग और आत्म-विर्सजन की चरम भूमि तक पहुँचाने वाला तत्त्व उनके लिए प्रेम ही रहा है। उसी ने उन्हें उदात्त बनाया और उनके भीतर गहरे मानवीय संस्कार डाले। अज्ञेय का काव्य प्रेम के नानाविध आयामों से परिपूर्ण है। प्रारम्भिक चरणों में यह उल्लास पूर्ण अनुभूति के रूप में दृष्टिगोचर होता है। धीरे-धीरे यह उनके भीतर उदात्त भूमि को निर्मित करने लगता है।

अज्ञेय की काव्य-यात्रा के प्रारम्भिक दौर की एक कविता है 'हरी घास पर क्षण भर'। इस कविता की अन्तर्वस्तु है-एक प्रणयी युगल की एक सूने घास के मैदान में पास-पास बैठकर एक दूसरे में लय होने की मनःस्थिति। प्रेमी अपनी प्रिय से कहता है :-

चाहे बोलो,
चाहे धीरे-धीरे बोलो,
स्वगत गुनगुनाओ,
चाहे चुप रह जाओ-

हो प्रकृतस्थः तनो मन कटी-छंटी उस बाड़ सरीखी,
नमो, खुल खिलो, सहज मिलो
अन्तः स्मित, अन्तः संयत
हरी घास-सी।

प्रेम में शब्दों द्वारा संवाद को अप्रांसगिक बतलाते हुए कवि कहता है कि चाहे स्वयं से बोलो या कुछ न बोलो, चुप ही रहो। प्रकृतस्थ बने रहो। परन्तु यहाँ हरी घास की ही भांति अन्तःस्मित और अन्तःसंयत रहते हुए खिलने और सहज मिलने की बात को महत्त्व दिया गया है।

अज्ञेय ने अपने प्रारम्भिक चरण में ही प्रेम में अन्तःस्मिति और अन्तःसंयम की बात पर बल दिया है। मांसलता, शारीरिकता और मुखरता अज्ञेय के प्रेम के दायरे में कम ही आते हैं। एक आन्तरिक अनुभूति, अपने भीतर डूबते जाने का भाव और प्रिय के साथ एकात्म होने की स्थिति ही अज्ञेय के प्रेम की पहचान है। वही जीवन में और वही काव्य में।

प्रकृति और परिवेश उनके भीतर गूँजते हैं। उनके प्रेम को स्वरित करते है :-

आकाश, धरा
दूर्वा, मेघाली,
पौधे,
लता दोलती,
फूल,
झरे पत्ते
तितली, भुनगें,
फुगनी पर पूँछ उठाकर इतराती छोटी-सी चिड़िया

सब पर उनकी नज़र है। सभी उनमें डूबते-उतराते हैं। परन्तु उनके प्रभाव में वे रहकर भी नहीं रहते हैं :-

क्षण हम न रहें
रह कर भी,

क्षण भर लय हो,
मैं भी, तुम भी
यह लयमानता ही प्रेम को अमर बनाती है।

प्रारम्भिक दौर के अज्ञेय में प्रेम एक स्मृति है, एक सुगंध जो उनके नासापुटों मे भरी हुई है। प्रिय जा चुका है। प्रेमी उनके चरण चिह्नों पर अपने चरण रखते हुए उसे भीतर उतारता है :-

चरण पर धर सिहरते से चरण,
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर-
पकड़ लेने को पदों से मृदुल तेरे पद-युगल के अरूण-तल की
छाप वह मृदुतर जिसे क्षण-भर पूर्व ही निज
लोचनों की उछटती-सी बेकली से मैं चुका हूँ चूम बारम्बार-
कर रहा हूँ, प्रिय, तेरा मैं अनुकरण
मुग्ध, तन्मय,
चरण पर धर सिहरते चरण।

अज्ञेय के काव्य में प्रेम का यह स्वरूप क्रमशः उदात्तर होता जाता है। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि असंख्य चेहरों के बीच हम कैसे एक चेहरे पर टिक जाते हैं। असंख्य आँखो के बीच हमारी आँखे कैसे सिर्फ दो आँखो पर टिक जाती हैं। और फिर उन्हीं दो आँखो के माध्यम से हम सम्पूर्ण विश्व को पहचानने लगते है :-

वही अपरिचित दो आँखे ही
चिर माध्यम हैं
सब आँखो से, सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का।

किसी की दो आँखें, किसी का नाम कैसे किसी के अस्तित्व की शर्त बन जाता है। वही पूरे अस्तित्व में संगीत बन कर गूँजने लगता है। एक स्थान पर वे लिखते है :-

....पास आओ,
जागरित दो मानसों के संस्फुरण में
नाम वह संगीत बनकर मुखर होता है।
कहाँ हैं दोनों तुम्हारे हाथ-सम्पुटित करके मुझे दो।

अज्ञेय के काव्य में प्रेम वह ज्वाला है, जिसमें पूरा व्यक्तित्व तपकर खरा कंचन बनता है। उसमें वेदना, करूणा, संवेदना सब कुछ अपना नया मानवीय स्वरूप प्राप्त करती है। एक छोटी-सी कविता है :-

चेतना की नदी बहती जाय तेरी ओर
मौन तेरे ध्यान में मैं रहूँ आत्म-विभोर
अलग हूँ, पर विरह की धमनी तड़पती लिए स्पन्दित स्नेह
और मेरे प्यार में, ओ हृदय के आलोक मेरे
वेदना की कोर।

प्यार जहाँ एक ओर वेदना की कोर हैं, वहीं दूसरी ओर हृदय का आलोक भी है। किसी के ध्यान में मौन और आत्म-विभोर रहना और निरन्तर वेदना की कसक को झेलते हुए हृदय में एक आलोक का अनुभव करना ही अज्ञेय के प्यार की पहचान हैं। वेदना, दुःख, करूणा मनुष्य को जितना संस्कारित करते हैं, उतना सुख, समृद्धि और अन्य कोई भाव नहीं। इसी लिए वे अपनी एक कविता 'पहला दौंगरा' में लिखते हैं :-

गगन में मेघ घिरते हैं।
तुम्हारी याद घिरती है
उमड़कर विवश बूंदें बरसती हैं-
तुम्हारी सुधि बरसती है।
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता। क्योंकि तुमने भी निकट से दुःख जाना था।
x x x x
दुःख सबको माँजता है

और-चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु जिनको मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रक्खें।

मेघों के आकाश से सुधियों का बरसना प्रकृति के साथ एक गहरे तादात्म्य का ही प्रतिफलन है। परन्तु सबसे अधिक मार्मिक सच्चाई है दुःख के मुक्तिदायी स्वरूप की पहचान। और दुःख के इस स्वरूप को प्रेम के अनुभव से गुज़र कर ही जाना जा सकता है। प्रेम एक साथ कितने तार व्यक्तित्व में पिरो जाता है :-

सवेरे-सवेरे तुम्हारा नाम।
एक सिहरन, जो मन को रंजित कर जाये
एक समपर्ण जो आत्मा को तल्लीनता दे

(सदानीरा-1, पृष्ठ-258)

कभी कवि को लगता है प्यार एक अत्यन्त सहज भाव है। जहाँ उसे घटित होना है, होकर ही रहेगा। उसमें कोई खोज, कोई जिज्ञासा, कोई प्रयास कुछ भी अपेक्षित नहीं है :-

कभी मैं चाहता हूँ, कभी पहचान लेता हूँ
कभी मैं जानता हूँ चाहना-पहचानना कुछ भी नहीं बाकी-
तुम्हें मैंने पा लिया है।

(सन्ध्यातारा, सदानीरा-1, पृष्ठ-257)

हज़ारों चेहरों में एक क्यों और कैसे हमारा अपना हो जाता है, कैसे हमें लगता है कि कोई अन्तःसूत्र हमें जोड़े हुए है। जुड़ने के लिए कहीं कोई प्रयास नहीं करना है, कोई पहचान नहीं बनानी है। जानने और पहचानने के दायरों के परे कोई अन्तःसूत्र हमें बाँधे हुए है। प्रेम की इस स्वतः स्फूर्त्तता का संकेत अज्ञेय अपने काव्य में अनेक प्रकार से करते हैं। यह अन्तःसूत्र इतना प्रबल होता है कि कितनी भी दूरी इसे कमज़ोर नहीं कर पाती। एक स्थान पर कवि कहता है :-

रात मोम सी बेबस ढ़लती रही
आस बाती-सी जलती रहीं :

भोर में सपना :

दूर कितना भी सही
तू है अपना।

(प्यार : व्यक्त, सदानीरा-2, पृष्ठ-24)

प्रेम की विभिन्न स्थितियों का चित्रण कवि आँखो के माध्यम से करता है। 'आँखें द्वार हैं आमंत्रण का', किन्तु आँखों से ही एक अजनबीपन की सृष्टि भी होती है :-

दूर से पास बुलाती
पर समीप आती तो आँखें लाती
कितनी-कितनी दूरियाँ।
जीवन के हर आमंत्रण में भरी हुई हैं
उफ कितनी मजबूरियाँ।

(आँखे-1, सदानीरा-2, पृष्ठ-6)

आँखें आमंत्रण देती हैं। पर आँखें ही वर्जना का सन्देश भी देती हैं। आँखें पास बुलाती हैं, परन्तु आँखें ही अन्तर की विवशताओं का संकेत भी देती हैं।

कभी लगता है आँखों में मात्र एक अलसाई हुई परछाई भर है, परन्तु पास आने पर उन्ही आँखों में कितनी गहराइयाँ डूबी नज़र आती हैं।

जब पुकारती थीं, तब उनमें
कितनी हल्की दिखती थी
अलसाई परछाइयाँ,
आई निकट उन्हीं आँखो में
डूब गई गहराइयाँ।

(आँखें-2, सदानीरा-2, पृष्ठ-26)

प्यार की अमरता की बात अज्ञेय अनेक प्रकार से अपनी कविताओं में करते हैं। वह क्षणांश में घटित होता है। और क्षणांश में ही ऊपरी तौर पर तिरोहित भी

हो जाय तो भी वह हमारे भीतर अमर हो जाता है। और हमें रूपान्तरित कर जाता है। हमारे भीतर एक नया उदात्त भर जाता है। वे लिखते है :-

सभी कुछ तो बना है, रहेगा :
एक प्यार ही को क्या
नश्वर हम कहेंगे-
इस लिए कि हम नहीं रहेंगे?
(कि हम नहीं रहेंगे, कितनी नावों में कितनी बार, पृष्ठ-28)

परन्तु प्यार में विछोह भी होता है। हम जुड़ते हैं ता टूटते भी हैं। अज्ञेय वियोग को भी अत्यन्त धीरज से अपनाते हैं। उनकी एक कविता :-

यह एक और घर पीछे छूट गया,
एक और भ्रम
जो अब तक मीठा था
टूट गया।

इस प्रकार घर से जुड़ना और टूटना अज्ञेय में एक गहरी और व्यापक रागात्मकता की सृष्टि करते हैं। मिलन और विछोह के अनुभवों को अतिक्रमित करते हुए अज्ञेय एक ऐसी भूमि पर पहुँचते हैं, जहाँ रागानुभूति का स्वरूप सर्वस्पर्शी हो जाता है :-

कोई अपना नहींकि
केवल सब अपने हैं।
x x x x
यों घर-जो पीछे छूटा था-
वह दूर पार फिर बनता है।

प्यार के कड़वे और मीठे अनुभवों से गुज़रता हुआ कवि का मन एक ऐसे धरातल पर पहुँचता है, जहाँ प्यार एक ऐसा अंगार बन जाता है जो कभी नहीं बुझता। अपनी एक कविता में कवि कहता है :-

एक दिन रूक जायेगी जो लय
उसे अब और क्या सुनना?
व्यतिक्रम ही नियम हो तो
उसी की आग में से
बार-बार, बार-बार
मुझे अपने फूल हैं चुनना।
चिता मेरी है दुःख मेरा नहीं।
तुम्हारा भी बने क्यों, जिसे मैंने किया है प्यार?
x x x x
जिसे कुछ भी, कभी, कुछ से नहीं सकता मार-
वही लो, वही रक्खो साज-संवार-
वह, कभी बुझने न वाला
प्यार का अंगार।

(अंगार, कितनी नावोंमें कितनी बार, पृष्ठ-3)

प्यार का क्षण अमरत्व का क्षण है, यह बात तो अज्ञेय अपनी कविताओं में नाना प्रकार से बार-बार कहते हैं। एक कविता है :-

मैंने देखा
एक बूंद सहसा
उछली सागर के झाग से
रंग गयी क्षण-भर ढलते सूरज की आग से।
मुझको दीख गया
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन नश्वरता के दाग से!

कवि सागर के झाग से उछली एक बूँद को देखता है। उसे दिखता है कि ढलते सूरज की लाल किरणें उस बूँद को रंग देती हैं। बूँद का जीवन तो क्षण भर का है, परन्तु वह लाल रंग में दिखती हुई छवि तो अमर है। वैसे ही जैसे सूने विराट्

के सम्मुख आलोक का संस्पर्श पाया हुआ अपनापन अनश्वर हो जाता है। क्षण की अमरता, विशेषकर प्यार के क्षण की अमरता अज्ञेय के काव्यय में यत्र-तत्र मिलती है।

कवि को अपने प्रिय पर अटूट भरोसा है। अपने हर टूटन के क्षण में, हर बेखुदी के दौर में वह उसी प्रिय का आह्वान करता है। अज्ञेय की एक कविता है- 'उन्मत्त'। प्रकृति का नशा कवि पर सवार है। परन्तु उस नशे में यदि पाँव लड़खड़ाते हैं तो वह उसी प्रिय को याद करता है। वही प्रिय उसे संभाल लेगा, यह उसका अटूट विश्वास है। कविता है :-

सूंघ ली है सांस भर-भर
गंध मैंने इस निरन्तर
खुले जाते क्षितिज के उल्लास की

खा गया हूँ नदी-तट की
लहरती विछलन जिसे सौ बार
धो-धो कर गयी है अंजली वातास की,

पी गया हूँ अधिक कुछ मैं
स्निग्ध सहलाती हुई-सी
धूप यह हमेन्त की,

आज मुझ को चढ़ गई है
यह आस्था अकूल अपलक
नीलिमा आकाश की।

मत छुओ, रोको, पुकारो मत मुझे,
जहाँ मैं हूँ वहां से मत उतारो-
मुझे कुछ मत कहो।
-मगर हाँ, कांपे अगर डग तो
तुमहीं, ओ तुम, तुम्हीं-तुम हो
जो हाथ मेरा गहो।

(सदानीरा-2, पृष्ठ-63-64)

पूरी कविता की तान अन्तिम तीन पंक्तियों पर टूटती है। प्रकृति का यह नशा कवि पर सदा सवार नहीं होता। खुले जाते क्षितिज का उल्लास तो सदा ही रहता है, परन्तु उसे सांस भर-भर सूँघने की मनःस्थिति सदा नहीं रहती। वातास की अंजली से घुली हुई नदी तट की विछलन तो हमेशा रहती है, परन्तु उसे पीने वाला नहीं रहता। आकाश की अकूल, अपलक नीलिमा का नशा हमेशा नहीं चढ़ता। यह सब तभी होता है जब मन में कोई गहरा प्यार का नशा पहले से चढ़ा हो। और कवि चाहता है कि उस क्षण में यदि पाँव कापें और डगमगाएँ तो हाथ थामने वाला केवल वही हो जिसे वह अपने हृदय में धारण किए हुए है।

प्यार और दर्द के रिश्ते पर भी कवि ने अनेक कोणों से अपनी नज़र डाली है। उसे लगता है कि दर्द को पीने और पचाने की क्षमता सबसे अधिक प्यार ही देता है। वह प्यार ही है जो व्यक्ति को बड़े से बड़ा दर्द सहने लायक बनाता है :-

क्या नहीं प्यार से इतर
ठौर है कोई
जो इतना दर्द संभालेगा?
अरे आज पा गया प्यार मैं, वैसा
दर्द नहीं अब मुझको सालेगा!

(जब-जब, सदानीरा-2, पृष्ठ-64)

प्रेम का अनुभव व्यक्ति को भले ही जीवन में एकाधिक बार हो, परन्तु एक अनुभव ऐसा होता है जो अद्वितीय होता है, जिसे दुहराया नहीं जा सकता। जो अपनी छाप हमेशा के लिए अमिट छोड़ जाता है। अज्ञेय की एक कविता इस सत्य का साक्षात्कार करती है :-

झील का निर्जन किनारा
और वह सहसा छाये सन्नाटे का
एक क्षण हमारा।
वैसा सूर्यास्त फिर नहीं दिखा
वैसी क्षितिज पर सहमी-सी बिजली

वैसी कोई उत्ताल लहर और नहीं आयी
न वैसी मदिर बयार कभी चली।

वैसी कोई शक्ति अकल्पित और अयाचित
फिर हम पर नहीं छायी।
वैसा कुछ और छली काल ने
हमारे सटे हुए लिलारों पर नहीं लिखा।

वैसा अभिसिंचित, अभिमंत्रित,
सघनतम संगोपन कल्पान्त
दूसरा हम ने नहीं जिया।
वैसी शीतल अनल-शिखा
न फिर जली, न चिर-काल पली,
न हमसे सँभली।

या कि अपने को उतना वैसा
हमीं ने दुबारा फिर नहीं दिया?

(झील का किनारा, सदानीरा-2, पृष्ठ-74)

प्रेम के अनुभाव में विछोह की उदासी प्रेमी जनों के बीच एक ऐसा सुपरिचित अहसास है, जिसका अनुभव हर एक को होता है। परन्तु अज्ञेय उस विछोह की उदासी को एक विशेष धरातल प्रदान करते हैं। उनकी एक कविता है- 'विदाई का गीत'। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं :-

यह जाने का दिन आया
पर कोई उदास गीत
अभी गाना ना।
चाहना जो चाहना
पर उलाहना मन में ओ मीत!
कभी लाना ना!

वह आगे कहते हैं :-

वह दूर, दूर सुनो, कहीं लहर
लाती है और भी दूर, दूरतर का स्वर;
उसमें, हां, मोह नहीं,
वह गुरूतर सच युगातीत
रे भुलाना ना।

मनुष्य के जीवन में कई बार मिलन और कई बार विछोह होता है। परन्तु उसका दंश, उलाहना या उदासी भी न रहे; वह सबको पीता और पचाता रहे और गुरूतर युगातीत सच के निकट अपने को पहुँचाता रहे। अन्ततः वह उस आलोक तक पहुँच सके जो उसके अन्तरतम में फैला हुआ है :-

यही ज्योति-कवच
है हमारा निजी सच

अज्ञेय अपने निजी प्रेम को अन्ततः एक ज्योति-कवच का स्वरूप देते हैं जो उनके भीतर के सारे तमस को दूर कर दे। अज्ञेय की एक कविता है- 'मोड़ पर का गीत'। यह भी विछोह के क्षण का गीत है। परन्तु कवि को विश्वास है कि यह गीत कभी मरेगा नहीं। क्योंकि इसके भीतर वह क्षण बंधा हुआ है, जो एक सम्बन्ध को चरितार्थ करता है। वह क्षण तो चला जायेगा। परन्तु वह सम्बन्ध जो उसमें आलोकित हुआ है, अमर है। वे लिखते हैं :-

जाना और जीना
जीना और जाना
न यह गहरी बात है कि इनमें होड़ है
न यही कि इनमें तोड़ है
गहरी बात यह कि दोनों के बीच
एक क्षण है कहीं, एक मोड़ है

जिस पर एक स्वयंसिद्ध जोड़ है, और वहीं,
उस पर ही
गाना है
यह गीत जो मरेगा नहीं।

(मोड़ पर का गीत, सदानीरा-2, पृष्ठ-192)

अज्ञेय वैसे क्षणों को बार-बार पकड़ने की कोशिश करते हैं। परन्तु उनका मानना है कि वे क्षण हमारे चाहने या प्रयत्न करने पर हमारे जीवन में नहीं आते। वे स्वयं अवतरित होते हैं। वे लिखते हैं :-

होते हैं क्षण : जो देश काल मुक्त हो जाते हैं।
होते हैं : पर ऐसे क्षण हम कब दुहराते हैं?
या क्या हम लाते हैं?
उनका होना, जीना, भोगा जाना
है स्वैर सिद्ध, सब स्वतःपूर्त।
-हम इसी लिए तो गाते हैं।

(होते हैं क्षण, सदानीरा-2, पृष्ठ-193)

अज्ञेय की कविता प्रणय की इतनी नाज़ुक और सूक्ष्म स्थितियों का अंकन करती है कि कहीं-कहीं मन पूर्णतः विभोर हो उठता है। कभी कवि उस मनःस्थिति का चित्रण करता है, जिसमें प्रिय सामने है, उसके प्रति कोई मांसल आकर्षण नहीं है, मात्र उसका सान्निध्य ही मन को विभोर किये हुए है। वह बंधा हुआ है। कहीं भी हिलना नहीं चाहता। वह अनुभूति से सराबोर है। उसमें डूबा हुआ है। उसके पास शब्द नहीं हैं कि वह उस अनुभव को बाँध सके। बिम्ब नहीं हैं जो उस मनःस्थिति को प्रत्यक्ष कर सकें। बस एक अनुभव है जिसमें कवि चूड़ान्त डूबा हुआ है। वह कहता है :-

ठीक है, कभी तो कहीं तो चला जाऊँगा
पर अभी कहीं जाना नही चाहता।
अभी नभ के समुद्र में

शरद के मेघों की मछलियाँ किलोलती हैं
मधुमालती के झूमरों में
कलियाँ पलकें अध खोलती हैं
अभी मेंहदी की गंध-लहरें
पथरीले मन-कगारों की दरारे टटोलती हैं
अभी, एकाएक, मैं तुम्हें छूना-पाना,
तुम्हारी ओर हाथ बढाना नहीं चाहता
पर अभी तुम्हारी स्निग्ध छांह से
अपने को हटाना नहीं चाहता।

(एक दिन, सदानीरा-2, पृष्ठ-106)

यहाँ उल्लास है, तन्मयता है, परन्तु मांसलता नहीं है। प्रेम के रस में छलकता हुआ मन जैसे एक आवेश में बंधा हो। उसको करना कुछ नहीं हो, बस खोया रहे, डूबा रहे।

प्रेमानुभूति के सघनतम क्षणों की एक व्यंजना कविता में निष्पन्न हुई है। प्रिय समक्ष है। परन्तु प्रेमी अनुभूति की उस चरम भूमि पर है, जहाँ कोई हरकत सम्भव नहीं हैं, सिवाय उस अनुभूति में डूबे रहने के :-

शब्द सूझते हैं जो गहराइयाँ टोहते हैं
पर छन्दों में बंधते नहीं,
बिम्ब उभरते हैं जो मुझे ही मोहते हैं,
मुझसे सधते नहीं,
एक दिन-होगा !-तुम्हारे लिए लिख दूँगा
प्यार का अनूठा गीत,
पर अभी मैं मौन में निहाल हूँ-
गाना गुनगुनाना नहीं चाहता!
क्या करूँ : इतना कुछ है जो छिपाना नहीं चाहता
पर अभी बताना नहीं चाहता।

ठीक है, कभी ता कहीं तो चला जाऊँगा

पर अभी कहीं जाना नहीं चाहता, नहीं चाहता!

(सदानीरा-2, पृष्ठ-206)

यह पूरी कविता एक विशेष मनःस्थिति का जीवन्त अक्स प्रस्तुत करती है। प्रेमानुभूति का वह चरम क्षण किसी भी बाहरी अभिव्यक्ति का प्रयास झेल ही नहीं सकता। न तो कर्मेन्द्रियों की सहज क्रियाएँ और न ही वाणी का उपयोग। हाथ-पैर तो खामोश हैं ही, जिह्वा और मस्तिष्क भी शान्त हैं। केवल मौन ही एक मात्र सरणी है जिसमें कवि अपने को डुबोये है। कोई शब्द, कोई बिम्ब उस मनःस्थिति को व्यक्त नहीं कर सकते। बस वह इतना ही चाहता है कि उसका प्रिय उसके समक्ष उस क्षण बना रहे। उसकी ऐसी कोई अभीप्सा नहीं कि वह लम्बे समय तक अपने प्रिय को अपने समक्ष बनाये रखे। जब तक वह सघनतम अनुभूति उसे बाँधे हुए है, फिर वह कहीं चला जाये। अनुभूति तो उसके भीतर उसके अन्तरत में बनी रहेगी।

अज्ञेय की दृष्टि में प्यार आत्म बलिदान का ही दूसरा नाम है। वे कहते हैं कि प्यार में हम स्वयं अपने को वेध्य बनाते हैं, स्वयं अपना मर्म स्थल अपने प्रेमास्पद के समक्ष खोलकर रख देते हैं कि वह उसे बेध दे। वह चमकीली कटार भी हमीं तैयार करते हैं और उसे अपने प्रिय के हाथ में थमा देते हैं। साथ ही उसे कुशल, निष्कम्प और अचूक वार करने का मर्म भी हमीं बतलाते हैं। वे लिखते हैं :-

नहीं तो और क्या है प्यार
सिवाय यों
अपनी ही हार का अमोघ दाँव किसी को सिखाने के-
किसी के आगे
चरम रूप से वेध्य हो जाने के।

(वेध्य, सदानीरा-2, पृष्ठ-212)

इसी आत्म बलिदान वाले भाव के वे दूसरे बिम्बों के माध्यम से भी व्यक्त करते है :-

प्यार

एक यज्ञ का चरण
जिसमें मैं वेध्य हूँ।
अथवा
एक अचूक वरण
कि किसके द्वारा
मैं मर्म में वेध्य हूँ

यह सच है कि आत्म बलिदान का यह भाव विशेष मनःस्थिति का ही प्रतिफलन है। यही प्यार का सम्पूर्ण भाव-बोध नहीं है। अनुभूति विशेष की व्यंजना है। अन्ततः यह प्रेम का भाव हमें एक ऐसे उच्चतर धरातल पर ले जाता है, जहाँ केवल प्रकाश का ही साक्षात्कार होता है। जिसे हम मरण कहते हैं, उसके द्वार पर पहुँचने पर हमें यह एक ऐसी दिव्यानुभूति से भर देता है, जिसमें ज्योति होती हैः 'मरण के द्वार पर'। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं :-

ज्योति के भीतर ज्योति
के भीतर ज्योति।
प्यार है वह-वह सत्
और तत्
तदसि त्वं-एतत्।

जीवन में प्यार और मरण में अमरत्व की अनुभूति, ज्योति की अनुभूति-यही है प्यार की परिणति।

प्यार व्यक्ति को तोड़ता भी है। परन्तु यदि उसमें वह अपेक्षित उदात्तता आ गई है, उस टूटन को न केवल वह धीरज से अपने में पचा लेता है, बल्कि उसके माध्यम् से और उदात्तर हो जाता है। अज्ञेय की एक कविता हैं :-

यों मत छोड़ दो मुझे, सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो, सागर,
कहीं मुझे तोड़ दो!
मेरी दीठ को और मेरे हिये को,

मेरे कर्म को और मेरे मर्म को,
मेरे चाहे को और मेरे जिये को
मुझको और मुझको और मुझको
कहीं मुझसे जोड़ दो!
यों मत छोड़ दो मुझे, सागर,
यों मत छोड़ दो।

यह सागर अज्ञेय के लिए मात्र दृश्यजगत् का सागर नहीं है। यह तो उनके प्यार का ही सागर है, जिससे वह प्रार्थना कर रहे हैं। इस प्रार्थना में जहाँ एक ओर कहीं तोड़ देने का निवेदन है तो दूसरी ओर अपने सारे कर्म और मर्म को, अपने चाहे और जिये को, स्वयं को स्वयं से जोड़ने की याचना भी है। प्यार जहाँ चारों ओर से व्यक्ति को अकेला बनाता है, वहीं वह व्यक्ति से उसका साक्षात्कार भी कराता है। उसे उसके सच्चे अन्तःस्वरूप से मिलाता भी है। अज्ञेय की एक पंक्ति है :-

मिलना हो तो कुछ तो टूटे
कुछ टूटे तो मिलना हो।

यह टूटना और जुड़ना-सीमित सच्चाइयों से टूटना और बृहत्तर सच्चाइयों से जुड़ना-प्यार की अनिवार्य परिणतियाँ हैं।

प्रेम की एक घनीभूत मनःस्थिति की व्यंजना अज्ञेय की कविता 'सभी से मैंने विदा ली' में हुई है। प्रेमी सारे स्थलों, सन्दर्भों और उपादानों से विदा लेता है, परन्तु प्रिय से कैसे विदा ले? उसके सामने तो उसका मुँह खुलता नहीं। न मुँह से बोल निकल पाते हैं। कवि प्रेम के अनुभव को समझने का प्रयास करता है। उस अनुभव को शब्दों में बाँधना चाहता है, परन्तु वह चरम अनुभव क्या परिभाषित किया जा सकता है? सारी प्रारम्भिक स्थितियों को शब्दबद्ध करने के पश्चात् कवि कहता हैं :-

एक मानव ही-हर उसमें जिस पर हमें ममता होती है
हम लगातार मरते हैं,

हर वह लगातार
हममें मरता है,
उस दोहरे मरण की पहचान को ही
कभी विदा, कभी जीवन-व्यापार
और कभी प्यार
हम कहते हैं।

मरण और अमरत्व का अद्‌भुत संगम प्यार होता है। अज्ञेय के काव्य में यह अनेक प्रकार से अनेक बिम्बों और छवियों के द्वारा व्यंजित हुआ है।

अज्ञेय की प्रणयानुभूति में शरीर की झलक जहाँ-तहाँ ही मिल पाती है। परन्तु जहाँ मिलती है, वहाँ शरीर-तत्त्व होते हुए भी अनहुआ हो जाता है। एक कविता है 'देहरी'। पूरी कविता इस प्रकार हैं :-

मेरी आँखो ने तुझे सहलाया है
जैसे शिशु अंगुलियाँ
हिलगे शशे को
कौतुक से
मेरे हाथ तेरे साथ खेले हैं
जैसे पर्वती सोतों के
आलोक के बुलबुलों-बसे पानी से
रोमांचित होते
मेरे होठों ने तुझे चूमा है
सिहरी श्रद्धा से
तेरी देह देहरी है जिसके पार
एक समाधिस्थ सन्नाटा है
ओ मेरे देव दारू अशोक
मेरे ओठ
मेरे हाथ
मेरी आँखे
और तू.....

देह देहरी है, जिसके पार एक समाधिस्थ सन्नाटा है। कवि ने देह को इसी रूप में देखा है। मात्र एक देहरी, जिसके पार समाधिस्थ सन्नाटे में प्रवेश मिल सके।

कहीं-कहीं अज्ञेय प्रेम की अत्यन्त सुकुमार व्यंजनाएँ कुछ अलग हटकर करते हैं। जैसे प्रेमी प्रिय को सपने में सहला रहा है। प्रिय प्रेमी के चेतन मानस में तो छाया हुआ है ही, परन्तु उसके अवचेतन में भी वही है। 'प्यार के तरीके' कविता की पंक्तियाँ है :-

प्यार के तरीके तो और भी होते हैं
पर मेरे सपने में मेरा हाथ
चुपचाप
तुम्हारे हाथ को सहलाता रहा
सपने की रात भर

पूरी रात सपने में प्रिय के हाथों को सहलाते हुए व्यतीत हुई। प्रातः जब सपना टूटा होगा तो कैसा लगा होगा! ऐसी ही एक कविता है 'सहारे'-

उमसती सांझ
हिना की गन्ध
किसी की याद
कैसे-कैसे प्राण लेवा
सहारे हैं
जीने के

कभी-कभी जीने को कोई दूसरा बड़ा मकसद नहीं रह जाता सिवाय इसके कि पूरी चेतना किसी स्मृतिगन्ध में डूबी हुई हो। उन्हीं स्मृतियों के सहारे ज़िन्दगी को जिया जा रहा है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम किसी पुराने रागात्मक अनुभव को अपने कर्म-संकुल जीवन में अनेक तहों के नीचे दबाये रखते हैं, परन्तु एक क्षण ऐसा आता है कि वह दबा हुआ अनुभव सहसा फूट निकलता है और हम सारे जगत को एक नयी दृष्टि से देखने लगते हैं। अज्ञेय की एक कविता इस प्रकार के

अनुभव की सच्ची व्यंजना प्रस्तुत करती है :-

आज मैंने पर्वत को नयी आंखों से देखा।
आज मैंने नदी को नयी आंखों से देखा।
आज मैंने पेड़ को नयी आंखों से देखा।
आज मैंने पर्वत, पेड़, नदी, निर्झर, चिड़िया को
नयी आंखो से देखते हुए
देखा कि मैंने उन्हें तुम्हारी आंखो से देखा है।
x x x x
आज मैंने अपने प्यार को
जो कुछ है और जो नहीं है उस सबके बीच
प्यार के एक विशिष्ट आसन पर प्रतिष्ठित देखा।
(तुम्हारी आंखो से देखा।)
आज मैंने तुम्हारा
एक आमूल नये प्यार से अभिषेक किया
जिसमें मेरा, तुम्हारा और स्वयं प्यार का
न होना भी है, वैसा ही अशेष प्रभा-मंडित
आज मैंने तुम्हें
प्यार किया, प्यार किया, प्यार किया.....

प्रिय सामने नहीं हैं। अन्तर्तम् में कहीं दबा हुआ पड़ा है। सहसा जैसे कोई स्फोट हुआ हो और भीतर दबी रागानुभूति पूरी ऊर्ज्जस्विता के साथ धरातल फोड़ कर उग आई हो। सब कुछ बीता-सा लगता था। जो हुआ था अनहुआ-सा हो चुका था। किन्तु प्यार का वह अमर क्षण पूरे वेग के साथ जी उठा है। जो न होना-सा लगता था वह आज अशेष प्रभा मण्डित हो गया है। कवि को लगता है आज उसने वह सब कुछ उसी गहराई से फिर से प्राप्त कर लिया है। अन्तिम पंक्ति कितनी भावोच्छल है :-

आज मैंने तुम्हें
प्यार किया, प्यार किया, प्यार किया.....

अगर पूरी पृष्ठभूमि से जुड़ी ने होती तो यह एक सिनेमायी पंक्ति प्रतीत होती। परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में यह एक ऐसा उल्लसित उद्‌गार है जो कवि के मानस में विस्फोट के रूप में प्रत्यक्ष हुआ है।

कवि ने प्रेम को अत्यन्त एकाकी बना देने वाला अनुभव माना है जो वियोग के दौर में उसे सारे जगत् से अलग कर देता है। परन्तु चेतना के गह्‌वरों में कोई अनुभूति ऐसी जीवन्तता के साथ बैठी रहती है जो उसे कभी अकेला होने नहीं देती है। हम कविता में उसे अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है :-

प्यार अकेले हो जाने का एक नाम है
यह तो बहुत लोग जानते हैं
पर प्यार
अकेले छोड़ना भी होता है इसे
जो वह कभी नहीं भूली
उसे
जिसे मैं कभी नहीं भूला

(प्यार अकेले हो जाने, सदानीरा-2, पृष्ठ-358)

प्रेम अज्ञेय के मानस का एक स्थाई भाव रहा है। अन्य सारे आयामों में विचरण करते हुए अज्ञेय अपने भीतर प्रेम के इस महाभाव को संजोये रहते हैं। जिन कविताओं की पंक्तियों के माध्यम से उनकी रागानुभूति को पहचानने का प्रयास किया गया है वे उनके सम्पूर्ण कवि जीवन में फैली हुई हैं। अज्ञेय का उनके जीवन-काल को सबसे अन्तिम काव्य संकलन है- 'ऐसा कोई घर आपने देखा है'। इस संकलन की अन्तिम कविता है -'सुनो मैंने कहीं हवाओं पर'। वह पूरी कविता इस प्रकार है :-

सुनो मैंने कहीं हवाओं को बाँध कर
एक घर बनाया है
फूलों की गन्ध से उसकी दीवारों पर
मैं तुम्हारा नाम लिखता हूँ

हर वसन्त में
पतझर के मत्तों की रंगीन झरन
उसे मिटा जाती है एक खड़खड़ाहट के साथ
पर जाड़ों की निहोरती धूप
तुम्हें घर में खड़ा कर जाती है
प्रत्यक्ष;
उस भरे घर से
हर बहती हवा के साथ
मैं स्वयं बह जाता हूँ
दूर कहीं
जहाँ भी तुम हो
मेरी स्मृति को फिर गुँजाते कि मैं फिर सुनूँ
और लिखूं हवाओं पर
तुम्हारा नाम।

जिस नाम को अज्ञेय हवाओं पर लिखना चाहते थे वह उनके अन्तस्तल में अत्यन्त गहरे लिखा हुआ था। रागानुभूति की सरसता, उदात्तता और समर्पणशीलता अज्ञेय के काव्य का प्राणतत्त्व है। वही महाभाव उनके भीतर सम्पूर्ण उदात्तताओं का सर्जन करता है। वही पाठक को भी अत्यन्त गहराई से छूता और मानवीय संस्पर्श से युक्त करता है।

अज्ञेय की सौंदर्य-चेतना

अज्ञेय की सर्जना का एक केन्द्रीय तत्त्व है, उनकी सौंदर्य-चेतना। अज्ञेय ने सौन्दर्य के विविध आयामों का साक्षात् किया है। निसर्ग का सौन्दर्य और मानव मन का सौन्दर्य?। उसे आत्मसात् करने की प्रक्रिया में उन्होंने बड़े-से-बड़े जोखिम से गुज़रने में भी कभी गुरेज़ नहीं किया। मानव-सौन्दर्य, पशु-पक्षी का सौन्दर्य, प्रकृति का सौन्दर्य सभी ने उन्हें खींचा है, विस्मय-विभोर किया है। उनके काव्य, उपन्यासों, कहानियों और संस्मरणों में सौन्दर्य के अनगिनत चित्र और छवियाँ हैं। सागर उन्हें जीवन भर खींचता रहा। सागर के तरंगगयित सौन्दर्य ने उन्हें बारम्बार अभिभूत किया है। अनेक कविताओं में सागर के विविध स्वरूपों का चित्रण है। उनकी कविताओं की एक श्रृंखला ही है-'सागर मुद्रा'। सागर के तरंगाकुल वक्ष पर अपनी एकाकी तरी लेकर लहरों से खेलना उनका यदि जीवन-व्यापार था, तो उसके तट पर बैठ कर घंटों-घंटों उसे निहार कर उसके अन्तस् में पैठ कर उसकी अगणित छवियों, भंगिमाओं को अपने काव्य में उतारना उनके सृजन की दुर्निवार प्यास थी। इसी प्रकार पर्वत-शिखरों के आरोहण का उन्हें आन्तरिक व्यसन था। हिमालय ही नहीं विश्व के अनेक पर्वत-शिखरों का उन्होंने आरोहण किया। वनराजियों के बीच असंशय एवं निर्भय मन से वे घूमते रहे। हिमाच्छादित पर्वत-शिखर अपनी पूर्ण धवलता के साथ उन्हें अपनी ओर खींचते रहे। 'नन्दादेवी' श्रृंखला की अनेक कविताएँ उनकी पर्वतीय सौन्दर्य-चेतना का आख्यान करती हैं।

उसी प्रकार वन अज्ञेय के आकर्षण के जीवन भर केन्द्र रहे। घने वनों में

एकाकी विचरण उनका व्यसन था। पखवारों तक ऐसे घने वनों में रहने के पश्चात् जब अज्ञेय उस वन से निकलते हैं तो लिखते हैं :-

यहाँ की वन-वीथियों में
पंछियों की हर चिहुँक के साथ
सिहरा करेगी
पदचाप मेरी।

सौन्दर्य का पान करना, उसे आत्मसात् करना एक धरातल है। उसे रचना दूसरा धरातल। अज्ञेय में दोनों सम्यक् रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। वन के सौन्दर्य से जुड़ी उनकी अनेक कविताएँ हैं। वन उनकी चेतना में बसा हुआ है। अपने व्यक्तित्व को वे वन-सा बतलाते हैं :-

चारों ओर से
खुला हूँ मैं वन-सा
वन-सा मैं बन्द हूँ
शब्द में मेरी समाई नहीं है
मैं सन्नाटे का छन्द हूँ।

इसी प्रकार नदी उनकी चेतना में सदा बहती रहती है। एक बार उन्होंने मुझ से कहा था कि मैं सोचता हूँ भागीरथी के उद्गम से गंगा सागर तक या गंगा सागर से भागीरथी के उद्गम तक नाव से यात्रा करूँ। भेड़ा घाट की स्मृति में लिखी उनकी कविता 'कल-कल बहती निर्झरिणी-स्वरूपा बेतवा' नदी के सौन्दर्य का अद्भुत चित्रण है। वनों में घूमते हुए वे प्रायः अकेले हो जाते थे। अपनी कहानी 'साँप' में उन्होंने अत्यन्त निकटता से साँप के सौन्दर्य का अंकन किया है। विषधर नाग की सन्निधि में खड़ा होकर उसके सौन्दर्य का अंकन अज्ञेय ही कर सकते हैं।

ऐसे ही अपने एक संस्मरण में जो पंडित हजारी प्रासद द्विवेदी पर केन्द्रित है, उन्होंने विद्युन्निपात के सौन्दर्य का चित्रण किया है। मानव-सौन्दर्य की एक बार चर्चा हो रही थी।। मैंने उनसे पूछा कि मानव शरीर की सुन्दरता का माप वे किस

प्रकार करते हैं। कुछ देर चुप रहने के पश्चात् उन्होंने कहा कि मेरी नज़र में पहली दृष्टि में दो ही बातें आती हैं-एक तो उस व्यक्ति की आँखे, दूसरा 'गेट'। मैंने कहा कि आँखे तो मैं समझता हूँ। आँखे मुझे भी बहुत प्रभावित करती हैं, परन्तु 'गेट' का अभिप्राय मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। उन्होंने कहा कि 'गेट' का अभिप्राय है व्यक्ति की पूरी देह-यष्टि, उसकी चाल, चलती हुई काया। फिर उन्होंने जोड़ दिया-शारीरिक सौन्दर्य से अधिक व्यक्ति का आत्मिक सौन्दर्य मुझे प्रभावित करता है।

अज्ञेय की सौन्दर्य-चेतना में प्रकृति के सौन्दर्य का स्थान सर्वोपरि है। वे सारा जीवन वनों, पर्वतों, सागरों, निर्झरों, प्रपातों, झीलों, मरूस्थलों, नाना प्रकार की वनस्पतियों, नदियों, हिमशिखरों के बीच भटकते रहे। उनका काव्य और उनकी कहानियाँ, उनके उपन्यास उस सौन्दर्य का अंकन करते थकते नहीं।

प्रकृति के अत्यन्त खतरनाक सौन्दर्य से साक्षात् करने का एक प्रसंग, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, अज्ञेय ने अपने एक संस्मरण में प्रस्तुत किया है। अपने युवा काल में वे पंडित हज़ारी प्रसाद द्विवेदी से मिलने शान्ति निकेतन गये थे। पंडित जी से उनका अच्छा निकटता का सम्बन्ध बन चुका था। उस दिन मौसम ठीक नहीं था। बादल छाये हुए थे और अन्धड़ की सम्भावना थी। शाम को जब अज्ञेय ने घूमने जाने का प्रस्ताव किया ते पंडित जी एवं पंडितानी जी दोनों ने मना किया। उन्हें शान्ति निकेतन क्षेत्र के मौसम के मिजाज का पता था। परन्तु अज्ञेय यह कर कि अभी बारिश आने में देर है तब तक लौट आयेंगे, घर से निकल आये। वे घूम ही रहे थे कि आँधी-पानी और बादलों का गर्जन-तर्जन प्रारम्भ हो गया और इसी के बीच विद्युन्निपात घटित हुआ। आगे का वर्णन अज्ञेय के शब्दों में-

''अन्धड़ का, बलों में सनसनाती हवा का, पिंडलियों पर चिकोटी काटती कंकरियों का आनन्द कैसे समझाया जा सकता है?... सचमुच उन्धड़ विचित्र था। मैं थोड़ी ही दूर गया हूँगा कि घटा मानों घुमड़ कर बिल्कुल नीचे झुक आई, अन्धेरा हो गया और ज़ोर से गड़गड़ाहट होने लगी। बजरी की कनियाँ मेरी पिंडलियों पर चिकोटी काटती हुई मुझे दौड़ाये जा रही थीं। एकाएक दूर पर बिजली की कौंध हुई और उसके बाद एक बिल्कुल दूसरे ढ़ग की कड़क; मैंने जाना कि कहीं

बिजली गिरी है। मैं सुन चुका था कि ऐसी आँधियों में वहाँ अक्सर बिजली गिरती है। उससे झुलसे हुए पेड़ भी मैंने देखे थे। पर मैं तो बढ़ता ही जा रहा था।

''अन्धेरा बढ़ गया था और उड़ती हुई बजरी के कारण आँखे खुली रखना भी कठिनतर होता जा रहा था। जब-जब मेरे चश्मों के शीशे पर भी कंकड़ बज उठते थे। एकाएक फिर वैसी ही तीखी कौंध और साथ ही साथ वह तीखी कड़क; बिजली बिल्कुल मेरे पास ही गिरी-इतनी निकट कि मुझे लगा, मैं हाथ बढ़ाये होता तो उसे छू लेता। लेकिन उसी क्षण मैंने जाना कि बिजली पास के एक छोटे गाछ पर गिरी है जो उसकी चोट से चिर कर दो टुकड़े हो गया है।

''वैसा सुन्दर दृश्य जीवन में कदाचित् ही देखा होगा। मैं थोड़ी देर स्तब्ध खड़ा रहा। बड़ी-बड़ी बूँदों की चपत ने मुझे जगाया तो मैं घर की ओर बढ़ा। डर मुझे नहीं लगा था, न यही ख्याल हुआ कि किसी बड़े जोखिम से बच गया हूँ-पर उस अनिर्वचनीय सौन्दर्य की सिहरन मन में थी।''

(बीसवीं सदी का वाणभट्ट, स्मृति लेखा, पृष्ठ-930)

इस प्रसंग से अज्ञेय की सौन्दर्य-चेतना की बनावट एक सीमा तक समझी जा सकती है। सौन्दर्य कि प्रति इतना आत्यन्तिक आकर्षण जहाँ किसी ख़तरे या भय की रेखा भी नहीं, ऐसा यह प्रसंग अकेला नहीं है। बचपन में कश्मीर में एक झील के सौन्दर्य ने वात्स्यायन को इतना अभिभूत किया था कि वे झील में कूद पड़े। तैरना नहीं जानते थे। किसी प्रकार उन्हें निकाला गया।

अज्ञेय की एक कहानी है 'साँप'। उस कहानी में विषैले फणिधर के सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

''मैंने भी देखा। सचमुच साँप सुन्दर होता है। निर्माता की एक बड़ी सफलता है, बड़े कलाकार की प्रतिभा का एक करिश्मा-कहीं कोने नहीं, कहीं अनावश्यक रेखा नहीं, बाधा नहीं, भार नहीं; लहरीली, निरायास, लय-युक्त गति, बिजली-सी त्वरा युक्त। लेकिन बिजली की कौंध में भी कहीं नोकें होती हैं और साँप की गति निरा प्रवाह है...सुन्दर, लचीला, ललौंहा-भूरा रंग, झिलमिल चमकीली कंचुल, चित्तियाँ जो न मालूम केंचुल के ऊपर हैं कि भीतर ऐसी काँच के भीतर से झाँकती-सी जान पड़ती है।...''

(साँप-लौटती पगडंडियाँ, पृष्ठ-391)

ये दोनों प्रसंग खतरनाक सौन्दर्य के साक्षात् के प्रसंग हैं, जहाँ सौन्दर्य का आकर्षण मृत्यु-भय से सर्वथा अछूता है। अज्ञेय की सौन्दर्य-चेतना सचमुच आत्यन्तिक है। वह अपने आप में सम्पूर्ण है। अज्ञेय की कहानियों में ऐसे अनेक सौन्दर्य-प्रसंग हैं।

अज्ञेय का काव्य तो प्रकृति के इतने सुन्दर चित्रों का अलबम है कि पाठक देखता ही रह जाये। उनकी 'दूर्वाचल' शीर्षक एक कविता है :-

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में।
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा-पुनः आँऊगा।
(भले ही बरस-दिन-अनगिन युगों के बाद!)
क्षितिज में पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली-
'अरे यायावर रहेगा याद?'

(दूर्वाचल, सदानीरा, भाग-1, पृष्ठ-211)

इस कविता में सौन्दर्य के अनेक बिम्ब परस्पर संश्लिष्ट हैं। गिरि का नम्र पार्श्व, चीड़ों के वन में उमंगो-सी चढ़ती हुई डगर, दर्द की रेखा-सी पैरों में बिछी नदी, नीड़ो में मौन बिहग-शिशु तो हैं ही। आँख और मन पूर्णतया इस सौन्दर्य-संश्लेष का पान कर रहे हैं। परन्तु ज्यों ही यह सौन्दर्यपायी यायावर अपने मन को दिलासा देता है कि कभी-न-कभी वह इस गिरि-पार्श्व में पुनः आयेगा, चाहे युगों-युगों बाद कि क्षितिज अपनी पलक खोल देता है, दामिनी तमक कर बोलती है-'अरे, यायावर रहेगा याद?'

अज्ञेय की यह कविता उनके यायावरी स्वभाव और सौन्दर्य खोजी प्रकृति पर गहरा प्रकाश डालती है। प्रकृति का सौन्दर्य उन्हें कभी-कभी उन्मत्त बना देता है वे उसमें इतना लयमान हो जाते हैं कि सारा सांसारिक जंजाल उनसे कुछ समय

के लिए छूट जाता है। एक कविता है :-

सूँध ली है साँस भर-भर
गन्ध मैंने इस निरन्तर
खुले जाते क्षितिज के उल्लास की,

खा गया हूँ नदी-तट की
लहरती बिछलन जिसे सौ बार
धो-धो कर गयी है अंजली वातास की,

पी गया हूँ अधिक कुछ मैं
स्निग्ध सहलाती हुई-सी
धूप यह हेमन्त की,

आज मुझ को चढ़ गयी है
यह अथाह अकूल अपलक
नीलिमा आकाश की।

मत छुओ, रोको, पुकारो मत मुझे,
जहाँ मैं हूँ वहाँ से मत उतारो-
मुझे कुछ मत कहो।

(उन्मत, सदानीरा, भाग-2, पृष्ठ-63)

सौन्दर्य का यह नशा प्रकृति को पूरा आत्मसात् करके उसमें एक प्रकार से लीन कर देने वाला नशा है, जहाँ व्यक्ति पूर्णतया उन्मत हो जाता है। सारी मनोदशा एक नशे में डूबे हुए व्यक्ति की है, जिसने क्षितिज के उल्लास की गन्ध को जी भर कर सूँघ लिया है। जिसने नदी तट की उस विछलन को सौ-सौ बार खा लिया है, हेमन्त की स्निग्ध सहलाती हुई धूप पी ली है। जिसे उथाह, अकूल, आकाश की नीलिमा चढ़ गई है। यह सूँघना, खाना, पीना, चढ़ना सभी सौंदर्य के नशे के सन्दर्भ में प्रयोग हुए हैं। प्रकृति का सौन्दर्य अज्ञेय के लिए एक अपरिभाषेय आकर्षण रखता है। ऐसा ही एक चित्र शरद का है :-

हाँ, शरद आया
ऊपर
खुली नीली झील-
तिरते बादलों के पाल।

हरे हरसिंगार।
तिनकों से ढले दो-चार
ओस-आँसू-कन।

खिली उजली धूप
नीचे
सिहर आया ताल।

शरद तो आयाः
मदिर आलोक फल लायाः
नहीं पर इस बार
दीखे हृदय-रंजन
युगल खंजन!

(शरद ता आया, सदानीरा, भाग-2, पृष्ठ-343)

शरद का पूरा परिवेश अपनी पूरी सुन्दरता से कवि के मानस को घेर लेता है। परन्तु खंजन-युगल की अनुपस्थिति उसे साल रही है।

अज्ञेय ने वर्षा, वसन्त, ग्रीष्म, शरद सभी ऋतुओं के सौन्दर्य के अप्रतिम चित्र खींचे हैं। प्रकृति के सौन्दर्य को वे द्रष्टा भाव से नहीं लेते। वे उस सौन्दर्य को जीते हैं। उनके भीतर वह सौन्दर्य रमता है। प्रकृति से उनका इस प्रकार का तादात्म्य उनकी अपनी आभ्यन्तरिक रागात्मकता के कारण है। इसीलिए वे कहते है :-

आज मैंने पर्वत को नयी आँखों से देखा।
आज मैने नदी को नयी आँखों से देखा।
आज मैंने पेड़ को नयी आँखों से देखा।

आज मैंने पर्वत पेड़ नदी निर्झर चिड़िया को
नयी आँखो से देखते हुए
देखा कि मैंने उन्हें तुम्हारी आँखों से देखा है।

यों मैंने देखा
कि मैं कुछ नहीं हूँ।
(हाँ मैंने यह भी देखा
कि तुम भी कुछ नहीं हो।)
मैंने देखा कि हर होने के साथ
एक ने होना बँधा है

(आज मैंने, सदानीरा, भाग-2, पृष्ठ-381)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति तो जो है, जैसी है, वही है, वैसी ही है। परन्तु वही पेड़, वही नदी, वही निर्झर, वही चिड़िया सब एक नये सौन्दर्य से संवलित हो जाते हैं, जब देखने वाले का मन एक विशेष भाव-दशा में होता है। अज्ञेय की यह भाव-दशा अधिकांशतः उनकी रागात्मकता से निर्मित और निर्धारित होती है। इसी रागात्मकता में डूबा कवि-मन प्रकृति को इस रूप में देखता है :-

ठीक है, कभी तो कहीं तो चला जाऊँगा
पर अभी कहीं जाना नहीं चाहता।

अभी नभ के समुद्र में
शरद के मेघों की मछलियाँ किलोलती हैं
मधु मालती के झूमरों में
कलियाँ पलकें अधखोलती हैं
अभी, एकाएक, मैं तुम्हें छूना, पाना,
तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाना नहीं चाहता
पर अभी तुम्हारी स्निग्ध छाँह से
अपने को हटाना नहीं चाहता।

(एक दिन, सदानीरा, भाग-2, पृष्ठ-206)

कवि का अन्तर्मन और बाहर का परिवेश कैसे एक दूसरे को राग-रंजित करते हैं, इसका ये पंक्तियाँ अद्‌भुत उदाहरण है। अज्ञेय की सौन्दर्य-चेतना उनकी राग-चेतना का प्रायः प्रतिबम्बन करती है। वे शुद्ध प्रकृति के सौन्दर्य में तो रमते ही हैं, परन्तु प्रायः उनका राग संवलित मन प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को और गहरे अर्थ दे जाता है। इसी रागात्मकता से संवलित दृष्टि अपने प्रियतम को, उसके सौन्दर्य को, इस प्रकार देखती है :-

तुम्हारी देह
मुझ को कनक-चम्पे की कली है
दूर ही से स्मरण में भी गन्ध देती है।
(रूप स्पर्शातीत वह जिसकी लुनाई
कुहासे-सी चेतना को मोह ले)

तुम्हारे नैन
पहले भोर की दो ओस बूँदें हैं
अछूती, ज्योतिमय, भीतर द्रवित
(मानो विधाता के हृदय में
जग गई हो माप करूणा की अपरिमित)
तुम्हारे ओठ-
पर उस इहकते दाड़िम-पुहुप को
मूक तकता रह सकूँ मैं-
सह सकूँ मैं
ताप उष्मा का मुझे जो लील लेती है!)

(नख-शिख, सदानीरा, भाग-एक, पृष्ठ-259)

प्रियतमा के सौन्दर्य से अभिभूत कवि मन-किस प्रकार की अनुभूतियों से गुज़रता है, इसका अनूठा अदाहरण यह कविता है।

अज्ञेय की सौन्दर्य-चेतना का यह एक आयाम है। रागात्मकता में डूबे अज्ञेय के लिए प्रकृति का सौन्दर्य कैसा-कैसा रूप ग्रहण करता है। परन्तु प्रकृति के शुद्ध सौन्दर्य के अप्रतिम चित्र अज्ञेय के काव्य में जगह-जगह झाँकते हैं, विशेषकर

पर्वतों, सदानीरा नदियों, लहराते सागरों और कलकल निनाद करते निर्झरों के सौन्दर्य-चित्र। साँझ और सूर्योदय के चित्र। पक्षियों और वनैले पशुओं के चित्र। जैसा ऊपर कहा गया, सुन्दरता है, तो उसके सारे जोखिमों के प्रति लापरवाह होकर अज्ञेय उसे आत्मसात् करने से चुकते नहीं।

कुछ प्रकृति-चित्रों का उदाहरण देना पर्याप्त होगा। अज्ञेय की एक कविता जो पहले 'भेड़ा घाट की स्मृति' शीर्षक से प्रकाशित हुई और बाद में 'सदानीरा-भाग-1' में 'वहाँ-रात' शीर्षक से संकलित की गई, प्रस्तुत है :-

पत्थरों के उन कँगूरों पर
अजानी गन्ध सी अब छा गई होगी उपेक्षित रात।
बिछलती डगर-सी सुनसान सरिता पर
ठिठक कर सहम कार थम गयी होगी वात।
अनमनी-सी धुन्ध में चपचाप
हताशा में ठगे से, वेदना से क्लिन्न, पुरनम टमकते तारे।
हारकर मुरझा गये होंगे अँधेरे में बिचारे-
विरस रेतीली नदी के किनारे।

रूके होंगे युगल चकवे बाँध अन्तिम बार
जल पर वृत्त मिट जाते दिवस के प्यार का-
अपनी हार का।
गन्ध-लोभी व्यस्त मौना कोष करके बन्द
पड़ी होगी मौन
समेटे पंख, खींचे डंक, मोम के निज भौन में निष्पन्द!
पंचमी की चाँदनी कँपती उगलियों से
आँख पथरायी समय की आँज जावेगी
लिखत को 'आज' की फिर पोंछ 'कल' के लिए पाटी माँज जावेगी।

कहा तो सहज, पीछे लौट देखेंगे नहीं-
पर नकारों के सहारे कब चला जीवन?
स्मरण को पाथेय बनने दो :

कभी तो अनुभूति उमड़ेगी प्लवन का सान्द्र घन भी बन।

(वहाँ-रात, सदानीरा भाग-1, पृष्ठ-249-50)

इस कविता में सौन्दर्य के कितने बिम्बों का संश्लेष है। उन बिम्बों का जो संश्लिष्ट प्रभाव कवि मन पर पड़ता है उसका भी मर्मवेधी उल्लेख है। और अन्तिम परिणति-'स्मरण को पाथेय बनने दो/कभी तो अनुभूति उमड़ेगी प्लवन का सान्द्र घन भी बन'-कविता की रचना प्रक्रिया का एक निर्भ्रान्त सूत्र भी इसमें प्रस्तुत कर दिया गया है। स्मृति बिम्बों का अनुभूति के सान्द्र घन के रूप में परिणत होकर कविता के रूप में रचा जाना एक शाश्वत रचना प्रकिया है।

सौन्दर्य कैसे मनुष्य को उदात्त बनाता है, कैसे उसकी चेतना का विस्तार करता है, इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण निम्न कविता में अनुभव किया जा सकता है :-

वहाँ
एक चट्टान है
सागर उमड़ कर उससे टकराता है
पछाड़ खाता है
लौट जाता है
फिर नया ज्वार भरता है
सागर फिर आता है।

न कहीं अन्त है
न कोई समाधान है
न जीत है न हार है
केवल परस्परता के तनावों का
एक अविराम व्यापार है
और इसमें
हमें एक भव्यता का बोध है
एक तृप्ति है, अहं की तुष्टि है, विस्तार है :
विराट् सौन्दर्य की पहचान है।
और यहाँ

यह तुम हो
यह मेरी वासना है
आवेग निर्व्यतिरेक
निरन्तराल...
खोज का एक अन्तहीन संग्राम :
यही क्या प्यार है?

(सागर मुद्रा-7,-सागर मुद्रा, पृष्ठ-75)

सागर का विराट् एवं भव्य सौन्दर्य कैसे वासना और आवेग में डूबे व्यक्ति को एक उदात्त भूमि पर ले जाता है, इसका आख्यान इस कविता में है।

सागर कैसे व्यक्ति को बदलता है या बदल सकता है, उसका एक संकेत कवि की इस प्रार्थना में है :-

यों मत छोड़ दो मुझे, सागर
कहीं मुझे तोड़ दो, सागर
कहीं मुझे तोड़ दो।
मेरी दीठ को और मेरे हिये को,
मेरी वासना को और मेरे मन को,
मेरे कर्म को और मेरे मर्म को,
मेरे चाहे को और मरे जिये को
मुझ को और मुझ को और मुझ को
कहीं मुझ से जोड़ दो।
यों मत छोड़ दो मुझे, सागर,
यों मत छोड़ दो।

(सागर मुद्रा-8, सागर मुद्रा, पृष्ठ-77)

मुझ को, मुझ से जोड़ने की प्रार्थना कितनी सारगर्भित और अन्तर्वेधी है। सागर के विराट् सौन्दर्य के समक्ष ही कवि मन को यह एहसास होता है कि वह स्वयं से कितना कटा हुआ है, दूर है। स्वयं को तोड़ने की प्रार्थना ताकि व्यक्ति अपने अन्तस् की सही पहचान कर सके। यह आत्मबेधी भाव सागर के विराट् स्वरूप

के समक्ष जागृत हो सकता है।

अज्ञेय की संश्लिष्ट सौन्दर्य चेतना की पहचान उनकी 'बना दे, चितेरे' शीर्षक इस कविता के द्वारा बहुत गहराई से सम्भव है :-

बना दे, चितेरे,
मेरे लिए एक चित्र बना दे।
पहले सागर आँक :
विस्तीर्ण प्रगाढ़ नीला,
ऊपर हलचल से भरा
पवन के थपेड़ों से आहत,
शत-शत तरंगो से उद्वेलित,
फेनोर्मियों से टूटा हुआ, किन्तु प्रत्येक टूटने में
अपार शोभा लिये हुए,
चंचल, उत्सृष्ट,
-जैसे जीवन।

हाँ, पहले सागर आँक :
नीचे अगाध, अथाह,
असंख्य दबावों, तनावों, खीचों और मरोड़ों को
अपनी द्रव एकरूपता में समेटे हुए,
अपने अखण्ड स्थैर्य में समाहित किये हुए,
असंख्य गतियों और प्रवाहों को
स्वायत्त,
अचंचल,
-जैसे जीवन।

सागर आँक कर फिर आँक एक उछली हुई मछली :
ऊपर अधर में
जहाँ ऊपर भी अगाध नीलिमा है
तरंगोर्मियाँ है, हलचल और टूटन है,

द्रव है, दबाव है,
और उसे घेरे हुए वह अविकल सूक्ष्मता है
जिसमें सब आन्दोलन स्थिर और समाहित होते हैंह;
ऊपर अधर में
हवा का एक बुलबुला भर पीने को
उछली हुई मछली
जिसकी मरोड़ी हुई देह-वल्ली में
उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।
जैसे तड़िल्लता में दो बादलों के बीच के खिंचाव सब कौंध जाते हैं-
वज्र अनजाने, अप्रसूत, असन्धीत सब
गल जाते हैं।

उसे प्राणों का एक बुलबुला भर पी लेने को-
उस अनन्त नीलिमा पर छाये रहते ही
जिसमें वह जनमी, जियी है, पली है, जियेगी,
उस दूसरी अनन्त प्रगाढ़ नीलिमा की ओर
विद्युल्लता की कौंध की तरह
अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
एक अकेली मछली।

बना दे, चितेरे,
यह चित्र मेरे लिए आँक दे।
मिट्टी की बनी, पानी से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी।
उस अन्तहीन उदीषा को
तू अन्तहीन काल के लिए फलक पर टाँक दे-
क्योंकि यह माँग मेरी, मेरी, मेरी है कि प्राणों के
एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूँ उदग्र, वह
अन्तहीन काल तक मुझे खींचता रहे :
मैं उदग्र ही बना रहूँ कि

-जाने कब-
वह मुझे सोख ले।

(बना दे चितेरे आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-8-9)

यह कविता अज्ञेय की सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि को व्याख्यायित करती है। जहाँ इसमें उनकी सौन्दर्य चेतना का अंकन हुआ है, जिसका मूल आलम्बन सागर है, वहीं उस मछली की जिजीविषा को रेखांकित किया गया है जो सागर की आंतरिक नीलिमा में से उछल कर आकाश की नीलिमा में प्रवेश पाना चाहती है। जो आकाश में व्याप्त उस प्राणवायु को अपनी साँसों में भरना चाहती है, जिसका सागर में अभाव है। साथ ही इस कविता में कवि की लोकोत्तर भूमि की तलाश का भी संकेत है जो अज्ञेय की परवर्ती काव्य-यात्रा में काफी मुखर हुई है।

सागर अज्ञेय के लिए व्यक्तित्व का एक गहरा उन्मोचक और प्रेरक सत्य है। सागर के सौन्दर्य के विविध आयाम, सागर के विविध रूप अज्ञेय के भीतर उदात्त के अनेक स्वर निर्मित करते हैं। एक कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं :-

मतियाया सागर लहराया
तरंग की पंखयुक्त वीणा पर
पवन ने भर उमंग से गाया।
फेन-झालरदार मखमली चादर पर मचलती
किरण अप्सरायें भार हीन पैरों से थिरकीं-
जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलतीं।
दूर धुँधला किनारा
झूम-झूम आया, डगमगाया किया।

यहाँ तक सागर के सौन्दर्य का वर्णन है। परन्तु इसे देखकर कवि के भीतर जो भाव जाग्रत होता है वह निम्न पंक्तियों मे व्यंजित है :-

मेरे भीतर जागा।
दाता,
बोला :

लो, यह सागर मैंने तुम्हें दिया।

इस प्रकार सौन्दर्य और कवि मन की उदात्तता का एक गहरा अन्तःसंम्बंध जगह-जगह उभर कर दिखता है।

उनकी सौंदर्य-चेतना में सबसे अधिक रागात्मक भूमि का अवदान है। यह स्वाभाविक भी है। जो हमें सुन्दर दिखता है, हम उससे प्रेम करते हैं। जिससे हम प्रेम करते हैं, वह हमें सुन्दर दिखता है। परन्तु अज्ञेय ने केवल मनोरम सौन्दर्य को ही अपने आकर्षण का केन्द्र नहीं माना है। अत्यन्त खतरनाक, जोखिम भरे, सामान्य जनों के लिए मृत्यु-भय से कँपाने वाले सौन्दर्य के पहलू भी अज्ञेय की सौन्दर्य-चेतना में उतने ही गहरे बसे हुए हैं।

अज्ञेय की ही एक कविता से इस अध्याय का समापन करूँगा :-

किरण जब मुझ पर झरी
मैं ने कहा :
मैं वज्र कठोर हूँ-
पत्थर सनातन।

किरण बोली :
भला? ऐसा!
तुम्हीं को तो खोजती थी मैं :
तुम्हीं से मन्दिर गढ़ूँगी
तुम्हारे अन्तःकरण से
तेज की प्रतिमा उकेरूँगी।

स्तब्ध मुझ को
किरण ने
अनुराग से दुलरा लिया।

(चक्रान्त शिला-4, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-36)

अज्ञेय का स्वाधीनता बोध

अज्ञेय अपने जीवन में और अपनी रचना धर्मिता में स्वाधीनता को सबसे शीर्षस्थ मूल्य मानते हैं। सृजन को भी वे स्वाधीनता से नीचे का मूल्य मानते हैं। अपने एक लेख 'मेरी स्वाधीनता : सबकी स्वाधीनता' में वे लिखते है :-

''स्वाधीनता की अवधारणा ही कठिन और धुँधली होती है, जितना उसका अनुभव प्रत्यक्ष और स्फूर्ति देने वाला। यह नहीं कि स्वाधीनता का अनुभव भी कुछ कम जटिल होता है, कदाचित् वास्तविक अन्तर इस बात में है कि उस अनुभव के लिए शब्द अनावश्यक होते हैं।

''मेरे लिए स्वाधीनता का एक विविधता-भरा रंगीन अनुभव रहा है। शायद इसी बात को पलट कर यों कहूँ तो सच्चाई के निकटतर होगा कि बहुत-से परस्पर भिन्न और रंगीन अनुभवों ने मिलकर मेरे भीतर धीरे-धीरे स्वाधीनता का एक समग्र बोध जगाया है।''

(मेरी स्वाधीनता : सब की स्वाधीनता, केन्द्र और परिधि, पृष्ठ-103)

यह स्वाधीनता का समग्र बोध अज्ञेय की दृष्टि में कैसा है? इसे समझने के लिए अज्ञेय के सम्पूर्ण सर्जनात्मक और चिन्तनपरक साहित्य का अवगाहन करना पड़ेगा। यह स्वाधीन दृष्टि उनकी कविताओं में, उनके औपन्यासिक चरित्रों में उनकी कहानियों में सर्वत्र अनुस्यूत है। अज्ञेय स्वाधीनता और सर्जना दोनों को चरम मूल्य मानते हैं और दोनों को एक-दूसरे में अन्तर्भुक्त मानते हैं। एक स्थान पर वे लिखते है :-

''सब मूल्यों के मूल में एक अधिमूल्य है : स्वाधीनता। जो कुछ स्वाधीनता को बढ़ाता है, पुष्ट करता है, उसे स्थायित्व और सुरक्षा देता है, वह सब मूल्यवान है और प्रासंगिक है''

उसी लेख में अज्ञेय फिर लिखते है :-

''मानव पहला स्वाधीन पशु है : और स्वाधीन होने के नाते पशु नहीं है। मानवेतर सभी प्राणियों के जीवन की चरम सम्भावनायें उनकी शरीर-संरचना से मर्यादित हैं। मानव पहला ऐसा प्राणी है जो भाषा पाकर, अवधारणा की शक्ति पाकर, प्रतीकों का स्रष्टा होकर, पूर्व कल्पना से परे चला गया है, अकल्पनीय और असीम सम्भावनाओं से सम्पन्न हो गया है- एक परोक्ष सत्ता से जुड़ गया है, स्वाधीन हो गया है। वह मूल्यों की अवधारणा करता है, उनकी सृष्टि करता है-और स्वाधीनता उसका सबसे पहला, सबसे आधारभूत मूल्य है, क्योंकि यही उसके मानवत्व की कसौटी है, इसके बिना वह पशु है।''

(प्रासंगिता का प्रश्न, केन्द्र और परिधि, पृष्ठ-98)

इस केन्द्रीय मानव-मूल्य के साथ अज्ञेय दूसरे उतने ही महत्त्वपूर्ण मूल्य सृजन को जोड़ते हैं। वे एक स्थान पर कहते हैं :-

''स्वाधीनता से मेरी पहचान यहीं समाप्त नहीं हुई इसके आगे कवि, कृतिकार और सम्पादक के रूप में उससे परिचय बढ़ा-और इसके अन्त में एक घुमन्तू, निर्बन्ध, प्रकृत, संस्थान-विरोधी के रूप में भी जो रूप, ऐसा कहा जा सकता है, आज भी मेरा है। ठीक अराजकता वादी तो नहीं हूँ, लेकिन अनुशासन की वही स्थिति मुझे आदर्श के रूप में काम्य है, जिसे संस्कारवान व्यक्ति स्वेच्छा से ओढ़ता है, क्योंकि उसमें समष्टि का कल्याण पहचानता है।

''इस विरोधी और कभी-कभी परस्पर विरोधी अनुभवों ने स्वाधीनता की मेरी समझ को ही गहराई नहीं दी, जिस स्वाधीनता का मैं अनुभव कर रहा था और लगातार जिसकी खोज में रत था, उसको भी नयी गहराई दी; यद्यपि यह मैं फिर भी नहीं कह सकता कि इन सारे अनुभवों से स्वाधीनता की अवधारणा अथवा परिभाषा का काम कुछ सरलतर हो गया, जो बात मैंने सीखी और जो दावे के

साथ कह सकता हूँ, वह यह थी कि स्वाधीनता कोई स्थिर अथवा स्थवर वस्तु नहीं है, ऐसी सम्पत्ति अथवा ऐसा रत्न नहीं है, जिसे कोई एक बार प्राप्त करके कहीं संजोकर रख सकता है। जो निरन्तर आविष्कार, शोध और संघर्ष माँगती है, यहाँ तक कि उस शोध और संघर्ष को ही स्वाधीनता का सार-सत्व कह सकते हैं।''

(मेरी स्वाधीनता सब की स्वाधीनता, स्रोत और सेतु)

यह आविष्कार, शोध और संघर्ष की जीवन-यात्रा और रचना-यात्रा में निरन्तर देखा जा सकता है। अज्ञेय अपने युवाकाल का एक अनुभव बतलाते हैं। वे इंग्लैण्ड के एक उद्यान में घूम रहे थे। उन्होंने वहाँ खुली हरियाली में खड़ा एक अकेला पेड़ देखा। एक पेड़ जो बिना किसी बाधा, बिना किसी क्षति के अपने सम्पूर्ण परिपक्व विकास की चोटी तक पहुँचा हो। वे कहते हैं : ''स्वाधीन होना अपनी चरम सम्भावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है।'' परन्तु इस निष्कर्ष तक पहुँचते ही दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है। ''क्या कोई अकेला स्वाधीन हो सकता है?'' और अज्ञेय कहते है : ''कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं को ऐसे ही परिवेश में पा सकता है, जिसमें दूसरे भी अपनी चरम सम्भावनाओं को पूरी तरह प्राप्त करने के लिए समान रूप से स्वाधीन हों। और ठीक यहीं पर स्वाधीनता का ऐसा बोध मानो तपस्या की यन्त्रणा बन जाता है, क्योंकि मानव मात्र की समान स्वाधीनता के प्रयत्न की अनिवार्यता बन जाता है।''

(मेरी स्वाधीनता : सबकी स्वाधीनता, केन्द्री और परिधि, पृष्ठ-106)

इस प्रकार अज्ञेय व्यक्ति की स्वाधीनता को समाज की स्वाधीनता के परिप्रेक्ष्य में ही ग्रहण करते हैं। स्वाधीन विवेक, स्वाधीन कर्म तभी सार्थक हैं जब उससे दूसरे के विवेक और कर्म पर आघात न पहुँचे।

स्वाधीनता कभी-कभी व्यक्ति को अकेला कर देती है। अपना स्वाधीन विवेक भीड़ के विवेक से अलग खड़ा हो जाता है। उस सन्दर्भ में अज्ञेय अपने से पूछते है :-

''अकेला तो मैं हूँ। ठीक है अकेला हूँ। पर क्यों अकेला हूँ? क्या इसलिए कि मैं राह से भटका हुआ हूँ और इस तरह वीरान में आ गया हूँ? या कि इसलिए कि

राह मुझे दिखीं तो मैंने उसे छोड़ा नहीं, चाहे वह मुझे बीहड़ में ले जाये?

(भवन्ती, पृष्ठ-39)

अज्ञेय की स्वाधीनता अकेला तो करती है, परन्तु वे उस समवाय से सदा जुड़े भी रहना चाहते हैं जो उनकी दृष्टि में दिग्विद् पान्थ का समुदाय है। वे कहते है :-

भीड़ का मत हो डटा रह
मगर दिग्विद् पान्थ के समुदाय से
तू
अकेला मत छूट

वे स्पष्ट रूप से कहते हैं : ''अतः सामाजिकता को स्वाधीनता का विपर्यय न मानकर उसका विस्तार ही मानना होगा। मानव की समाजिकता ही वह पीठिका होगी जिस पर उसकी स्वाधीनता की इमारत खड़ी होती है। मानव-स्वाधीन है तो अपने-आप मात्र में स्वाधीन नहीं है, वह अपने से इतर में, दूसरे में, स्वाधीन है। जितना, जिस मात्रा में, वह समाज को स्वाधीन बनाने में योग देता है, उतना, उस मात्रा में ही, वह स्वाधीन है।''

(शाश्वती, पृष्ठ-38)

यह अपने से इतर में, दूसरे में स्वाधीन होने की अवधारणा समान्य अवधारणा नहीं है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने को इतना संस्कारित कर ले कि उसे दूसरे के सुख में ही सुख मिलने लगे। जब तुलसीदास कहते है : 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' तो यह वही दिशा है। अपने को दूसरो के साथ तदातम होने की दिशा। गौतम बुद्ध कहते हैं कि दोष देखना हो तो अपने भीतर देख। दूसरों का दोष क्या देखता है। अज्ञेय की स्वाधीनता भी अपने को समवाय के लिए होम कर देने की स्वाधीनता है। एक कविता में वे लिखते हैं :-

जो भी जहाँ भी पिसता है पर हारता नहीं, न मरता है-
पीड़ित श्रमरत मानव

अविजित दुर्जय मानव
कमकर, श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा-
उसकी मैं कथा हूँ।

(मैं वहाँ हूँ, सदानीरा भाग-1, पृष्ठ-270)

जो स्वाधीनता व्यक्ति को समाज निरपेक्ष बनाती हो उसका अज्ञेय के लिए कोई महत्त्व नहीं। यह आश्चर्य ही है कि इतनी सारी अभिव्यक्तियो के बाद भी लोगों ने अज्ञेय को व्यक्तिवादी और समाज-निरपेक्ष घोषित करने में संकोच नहीं किया। स्वाधीनता के विविध आयामों पर अज्ञेय ने अपने स्पष्ट विचार रखे हैं। लेखक-स्वतंत्रता के सन्दर्भ में वे लिखते हैं :-

''लेखक अथवा कलाकार केवल शब्दों का या कागज़ पर लिखी हुई रचना का रचयिता नहीं है। उसकी रचना क्योंकि समाज को भी प्रभावित करती है, उसके संवेदन को रूप और विस्तार देती है, इसलिए रचना-स्वतंत्र समाज की रचना की भी स्वतंत्रता है। लेखक के नाते हमारी स्वतंत्रता का महत्त्व केवल इतना नहीं है कि हम जो चाहें लिख सकें, यह भी है कि हम समाज को वैसा बनाने को स्वतंत्र हैं, जैसा हम उसे बनाना चाहते हैं। रचना का कर्म तभी स्वतंत्र कर्म है जब उसकी सामाजिक अर्हता स्वतंत्र हो। अगर हम समाज के और संस्थान के ढाँचे को बदलने का प्रयत्न करने को स्वतंत्र नहीं हैं तो फिर हमारा रचना-कर्म स्वतंत्र नहीं है।

''इस अर्थ में फिर एक बार सर्जक साहित्यकार और क्रान्तिकर्मा सामाजिक कर्मी साथ जुड़ जाते हैं। दोनों ही मानव की रचना-धर्मिता की रक्षा और उसकी स्वाधीनता की रक्षा और विस्तार के लिए समान रूप से प्रयत्नशील हैं।''

(शाश्वती, पृष्ठ-85)

स्वाधीनता के नानाविध पक्षों पर अत्यन्त गहराई से अज्ञेय ने मन्थन किया है। एक स्थान पर उन्होंने कहा : ''तुम कहते हो कि मैं कला और संस्कृति पर बात नहीं कर सकता, क्योंकि मैं नंगा और भूखा हूँ। मैं कहता हूँ मैंने नग्नता और भूख का वरण किया है, ताकि मैं कला और संस्कृति पर बात कर सकूँ।'' यह स्वतंत्रता का वरण या वरण की स्वतंत्रता अज्ञेय की स्वाधीन चेतना का एक केन्द्रीय तत्त्व है।

एक स्वाधीन रचनाकार की पहचान उन्होंने अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'हट जाओ' में प्रस्तुत की है। इस कविता में कवि घोषित करता है कि कोई सत्ता-प्रतिष्ठान उसे दिशा-निर्देश नहीं कर सकता। उसका स्वाधीन विवेक ही उसे अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित कर सकता है। हर सत्ता-प्रतिष्ठान अपने हित को साधने के लिए रचनाकार का मार्गदर्शन करना चाहता है, परन्तु उसका साहित्यकार के वास्तविक लक्ष्य से कुछ भी लेना-देना नहीं है। वह तो अपनी सत्ता को जमाने में रूचि रखता है :-

तुम चलने से पहले
जान लेना चाहते हो कि हम
जाना कहाँ चाहते हैं।

और तुम
चलने देने से पहले
पूछ रहे हो कि क्या हमें
तुम्हारा और तुम्हारा मात्र
नेतृत्व स्वीकार है?

और तुम
हमारे चलने का मार्ग बताने का
आश्वासन देते हुए
हम से प्रतिज्ञा चाहते हो
कि हम रास्ते भर
तुम्हारे दुश्मनों को मारते चलेंगे
तुममें से किसी को हमारे कहीं पहुँचने में
या हमारे चलने में या हमारी टाँगें होने
या हमारे जीने में भी
कोई दिलचस्पी नहीं है :
तुम्हारी गरज

महज
इतनी है कि जब हम चलें तो
तुम्हारे झण्डे लेकर
और कहीं पहुँचे तो वहाँ
पहले से (और हमारे अनुमोदन के दावे के साथ)
तुम्हारा आसन जमा हुआ हो।
तुम्हारी गरज़
हमारी गरज़ नहीं है
तुम्हारे झण्डे
हमारे झण्डे नहीं हैं।
तुम्हारी ताकत
हमारी ताकत नहीं है बल्कि
हमें निर्वीर्य करने में लगी है।

हमें अपनी राह चलना है।
अपनी मंजिल
पहुँचना है।
हमें
चलते-चलते वह मंज़िल बनानी है।
और तुम सबसे उसकी रक्षा की
व्यवस्था भी हमें चलते-चलते करनी है।

हम न पिठ्ठू हैं न पक्षधर हैं
हम हम हैं और हमें
और आत्म-सम्मान चाहिए जिसकी लीक
हम डाल रहे हैं
हमारी ज़मीन से
हट जाओ।"

(हट जाओ, महावृक्ष के नीचे, पृष्ठ-37-39)

बिना किसी लाग-लपेट के साफ और अभिधा में अज्ञेय ने रचनाकार की स्वायत्तता का आख्यान किया है। इस उद्घोष में कहीं कोई समझौते का स्वर नहीं है। किसी सत्ता-प्रतिष्ठान को चाहे वह राजनीतिक हो, धार्मिक हो या और प्रकार का, साहित्यकार स्वीकार नहीं करता। वह अपना लक्ष्य स्वयं बनाता है। अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करता है। उसका मार्गदर्शक स्वयं उसका विवेक होता है। न वह किसी का पिट्ठू हो सकता है, न पक्षधर हो सकता है। वह अपने आप में स्वायत्ता और स्वाधीन होता है।

परन्तु स्वाधीन होने का अर्थ अनुशासन मुक्त होना नहीं है। अज्ञेय अपनी पूरी स्वाधीनता के साथ आत्मानुशासन में विश्वास करते हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा है :

''पक्षी का पिंजरा और पक्षी का अस्थिपंजर दो अलग-अलग चीज़े हैं। पिंजरे में उसे कैद करके रखा जाता है, जिससे वह विद्रोह करता है और मुक्त आकाश में भाग कर उड़ना चाहता है। उसका अस्थिपंजर उसकी शारीरिक संरचना का मूल आधार है। इसी प्रकार बाह्य अनुशासन में और आन्तरिक अनुशासन में मौलिक अन्तर है। आन्तरिक अनुशासन व्यक्ति स्वयं अपने स्वाधीन विवेक से अपने पर निर्धारित करता है। वह तो उसकी स्वाधीन चेतना का ही परिणाम है।''

स्वाधीनता का एक आयाम यह भी है कि रचनाकार स्वयं तय करे कि क्या श्लील है, क्या अश्लील, क्या सुसंस्कृत है क्या कुसंस्कृत। कोई सामाजिक व्यवस्था या शासन-व्यवस्था साहित्यकार की स्वाधीन चेतना के ऊपर श्लीलता या अश्लीलता अथवा सुसंस्कृति और कुसंस्कृति के मापदण्ड थोप नहीं सकती। न कोई स्वाधीन साहित्यकार इन थोपे हुए मापदण्डों का स्वीकार कर सकता है। अज्ञेय के उपन्यासों पर यह बहस बहुत ज़ोरो से चलाई गई। 'शेखर : एक जीवनी' के शशि और शेखर के रागात्मक सम्बन्धों को लेकर और 'नदी के द्वीप' के रेखा और भुवन के चरम अन्तरंग क्षणों के अंकन को लेकर। परन्तु हम देखते हैं कि रचनाकार जिस आन्तरिक अनुभूति की कसौटी पर अपने पाये हुए सत्य की अभिव्यक्ति का अधिकार अर्जित करता है, वही सबसे प्रामाणिक और श्रेयस्कर कसौटी है। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में पार्वती के सौन्दर्य का जो अंकन किया है, उसे स्थूल दृष्टि से देखना कितना हास्यास्पद है। जयदेव के 'गीत गोविन्दम्'

में जिस राधा-कृष्ण के श्रृंगार का मनोरम चित्रण व्यंजित हुआ है, वह पाठक को कितना रस-विभोर करता है।

स्वाधीनता का एक आयाम नैतिकता के बोध से जुड़ा है। नैतिकता का बोध हमें बाहरी समाज से भी मिलता है और अपने आन्तरिक प्रमाण से भी। आन्तरिक प्रमाण भी हमारे व्यक्तित्व की ही उपज है और यह व्यक्तित्व भी अकेलेपन में नहीं एक सामाजिक सन्दर्भ में ही विकसित होता है। इसलिए यह प्रश्न इतना सीधा नहीं है, फिर भी अज्ञेय का बल सदा उस नैतिकता को ही स्वीकार करने पर है जिसे वे अपने भीतर से प्राप्त करते हैं।

अज्ञेय की जीवन यात्रा और रचना यात्रा भी स्वाधीनता के उद्‌घोष से चलती है और स्वाधीनता के विसर्जन तक जाती है। जब अपने सम्पूर्ण अहं को ही वे विसर्जित करने की मनोदशा में आ जाते हैं, तो उनकी स्वाधीनता भी उसी विसर्जन का अंग बन जाती है। यह सब कुछ तेरा, तुझ को ही अर्पित वाली मनोदशा है। फिर भी स्वाधीनता का मूल्य उनके सम्पूर्ण जीवन का केन्द्रीय मूल्य रहा है।

स्वाधीनता के सन्दर्भ में एक पक्ष और महत्त्व पूर्ण रहा है। अज्ञेय सदा अपने से भिन्न विचार रखने वाले का सम्मान करते रहे हैं। यदि अपना मत, अपनी मत, अपनी दृष्टि, अपना मूल्यबोध हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं तो दूसरे का मत, दूसरे की दृष्टि दूसरे का मूल्यबोध क्यों कम महत्त्वपूर्ण हैं?

इस दृष्टि से वे एकदम एक लोकतांत्रिक व्यक्ति रहे हैं। किसी विचारधारा के अनुगामी या अनुयायी न होते हुए भी वे सभी दृष्टियों को समझने और उनका आदर करने में विश्वास करते रहे हैं। अपने मत पर दृढ़, परन्तु दूसरे की दृष्टि के विषय में पूरे तौर पर खुले हुए। इसीलिए वे

कहते : 'मेरी स्वतंत्रता सबकी स्वतंत्रता।'

अज्ञेय की लोकोत्तर चेतना

मनुष्य की जीवन यात्रा में एक उर्ध्वगामी तत्त्व होता है। पहले वह इस संसार की पार्थिव सच्चाइयों को ही अन्तिम मानता है। उन्हीं से जूझता है, संघर्ष करता है। उसी संघर्ष में से अपनी उपलब्धियों को अर्जित करता है। स्वयं, घर, परिवार, समाज, देश और विश्व तक उसकी यात्रा चलती है। जीवन की इन्हीं ठोस वास्तविकताओं से वह जूझता है। परन्तु एक समय उसके जीवन में ऐसा आता है, जब उसे लगता है कि यह संसार ही सब कुछ नहीं हैं। कुछ इसके परे भी है। वह जो इसके परे है, इससे विराट् है। वह नियामक भी है। निगूढ़ भी। यह पूरा गोचर लोक उसकी अभिव्यक्ति है। दर्शन की यह अनुभूति उसे अनूभूति के नये दर्शन की ओर ले जाती है। एक लोकोत्तर चेतना उसके चित्त को अनुप्राणित करने लगती है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इस चेतना यात्रा में एक सा चले। परन्तु अज्ञेय की जीवन यात्रा और उनकी सृजन यात्रा में भी यह मोड़ आता है। हम देखते हैं कि एक क्रान्तिकारी, एक नास्तिक व्यक्ति, शुद्ध रूप से तर्क विश्वासी व्यक्ति, कैसे धीरे-धीरे उस लोकोत्तर भूमि की ओर मुड़ता है। उधर मुड़ने की पहली अनुभूति उसे अहं के सम्पूर्ण विसर्जन की ओर ले जाती है। उसे लगता है, वह स्वयं कुछ नहीं है। जो है उस विधाता का है जिसने उसे रचा है, सिरजा है। इतना आत्मविश्वासी व्यक्ति, स्वयं को अपनी सम्पूर्णता तक ले जाने का संकल्प रखने वाला धुनी यात्री कैसे इतना विसर्जनशील बन जाता है, यह एक विवेचन का विषय हो सकता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि यह अनथक यात्रा भाव ही उसे उस भूमि की ओर प्रेरित करता है। अज्ञेय की कविता यात्रा

में यह मोड़ उनकी कुछ कविताओं में स्पष्ट झलकने लगता है। उनकी कविता 'सम्पराय' जो 1964 में लिखी गई थी और 'कितनी नावों में कितनी बार' संकलन में प्रकाशित हुई, इस नूतन यात्रा का स्पष्ट संकेत देती है। वे लिखते हैं:-

हाँ भाई
वह राह
मुझे मिली थी;
कुहरे में जैसी दी मुझे दिखाई
मैंने नापीः धीर, अधीर, सहज, डगमग, द्रुत, धीरे-
आज जहाँ हूँ, वही वहाँ तक लायी।
यहाँ चुक गई डगर :
उलहना नहीं, मानता हूँ पर
आज वहीं हूँ जहाँ कभी था-
एक कुहासे की देहरी पर :
दीख रहा है
पार
रूप-रूपायमान-रूपायित-
पहचाना कुछ : जिधर फिर बढ़ूँ-
धीर, अधीर, सहज, डगमग, द्रुत, धीरे,
हठ धर
मन में भर
उछाह!

(सम्पराय, कितनी नावों में कितनी बार, पृष्ठ-89)

कवि को लगता है कि कभी वह जिस कुहासे की देहरी पर खड़ा था और उसे अपना गन्तव्य झलका था उस ओर वह पूरे संकल्प से चला। कभी धीर मन से, कभी अधीर भाव से; कभी सहज, कभी डगमगाते हुए; कभी द्रुत, कभी धीरे। और चलते-चलते जब वह उस गंतव्य तक पहुँचता है तो उसे लगता है कि राह तो चुक गई, परन्तु वह कुहासा फिर वैसा ही छा गया। उसके सामने बहुत दूर, कुछ

नया रूप झिलमिलाने लगा है। उसे लगता है नये सिरे से फिर यात्रा करनी होगी। फिर उसी संकल्प के साथ इस नये रूप, नये गन्तव्य की ओर बढ़ना होगा। वह फिर बढ़ता है- 'धीर, अधीर, सहज, डगमग, द्रुत, धीरे/हठ धर/मन में भर उछाह!'

उसी कविता में अज्ञेय आगे कहते हैं :-
वह दिख रहा है पार मुझे,
पर बोलो,
उस तक जाने का क्या है उपाय-
है क्या उपाय?
रूप :
रूप,
रूपायमान,
स्पृष्ट। अनृत।
प्रव्रजित।

और कहाँ तक यही अनुक्रम!
कितनी देहरियों पर कितनी ठोकर?
कितना हठ?
कितने-कितने मन-कितना उछाह?

है राह?
कुहासे तक ही नहीं, पर देहरी के है।
मैं हूँ तो वह भी है,
तीर्थाटन को निकला हूँ
काँधे बाँधे हूँ लकड़ियाँ चिता की :
गाता जाता हूँ-
है, पथ है :

(सम्पराय, कितनी नावों में कितनी बार, पृष्ठ-92)

मनुष्य की यह अर्थवती खोज चिरकाल से चल रही है। इसे ही कोई रहस्यानुभूति कहता है, कोई अध्यात्म, कोई धर्म का चरम सारतत्त्व, कोई ईश्वर की अनुभूति। परन्तु इस लोक से परे कोई लोकोत्तर भूमि है, लोकोत्तर सत्ता है। जा इस लोक को भी नियंत्रित करती है, इसके बाहर भी। इस सत्ता के समक्ष हम अत्यन्त सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म इकाई हैं। हममें जीवन है, सामर्थ्य है, संकल्प है, परन्तु हमें यह भी पहचानना है कि एक अदृश्य लोक, एक अदृश्य सत्ता हमें घेरे हुए है, हमें थामे हुए है, हमें धारे हुए है।

अज्ञेय की काव्य-यात्रा का वह पड़ाव उनके काव्य संकलन 'आँगन के पार द्वार' में स्पष्ट गोचर होता है। 'आँगन के पार द्वार' से लेकर जीवन के अवसान तक वे लगातार उस मनोभूमि पर भी विचरण करते रहे हैं, जहाँ यह खोज स्पष्ट दिखती है। 'आँगन के पार द्वार' की काव्य-श्रृंखला 'चक्रान्तशिला' की कवितायें और लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' अज्ञेय की इस मनोभूमि की कवितायें हैं। 'चक्रान्त शिला' श्रृंखला की पहली ही कविता इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है:-

यह महाशून्य का शिविर,
असीम, छा रहा ऊपर
नीचे यह महामौन की सरिता
दिग्विहीन बहती है

यह बीच-अधर, मन रहा टटोल
प्रतीकों की परिभाषा
आत्मा में जो अपने ही से
खुलती रहती है।

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरूषों के हर वैभव में ओझल
अपौरूषेय मिलता है।

मैं एक, शिविर का प्रहरी, भोर जगा
अपने को मौन नदी के खड़ा किनारे पाता हूँ :
मैं, मौन-मुखर, सब छन्दों में
उस एक अनिर्वच, छन्द मुक्त को
गाता हूँ।

(चक्रान्त शिला-1, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-33)

इस महा शून्य के शिविर की अनुभूति जिसके ऊपर असीम छा रहा हो और नीचे महामौन की सरिता दिग्विहीन बहती हो, वही रहस्यानुभूति है, जिसके समक्ष सारी सांसारिक सच्चाइयाँ धुँधलाने लगती हैं। तब ऐसे एहसास से गुज़रने वाले व्यक्ति के सामने प्रस्तुत रूपों में एक अरूप का खिलना, गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय की अनुभूति, अनुभव में एक अतीन्द्रियता की अनुभूति और पुरूषों के हर वैभव में ओझल एक अपौरूषेय का एहसास वही अतीन्द्रिय एहसास है। कवि को लगता है कि वह मौन-मुखर दशा में अपने सभी छन्दों में उस एक अनिर्वच, छन्द मुक्त को गाता है। यह अनुभूति दशा जिस दर्शन की अनुभूति की ओर संकेत करती है, वह एक गहरे व्यक्ति का आत्म साक्षात्कार है। हमारे उपनिषदों में विशेष कर ईशावास्य उपनिषद्, प्रश्न उपनिषद् और केन उपनिषद् में ऐसे आत्म साक्षात्कार की दशाओं की अभिव्यक्ति है।

अज्ञेय से मैंने एक बार उनकी इस लोकोत्तर भूमि की खोज सम्बन्धी कविताओं के विषय में जिज्ञासा की थी। उन्होंने कहा था कि यह सच है कि अपने उत्तर काल में वे उन सच्चाइयों से साक्षात्कार करने का प्रयास करते हैं, जिन्हें भारतीय ऋषियों ने अपने जीवन में साधा था। त्रिकालदर्शिता, ईश्वरानुभूति, आत्मा विसर्जन ऐसे ही पक्ष हैं। मैं नहीं जानता ये सच्चाइयाँ प्रमाणित की जाने वाली सच्चाइयाँ हैं। निश्चय ही ये तर्कातीत हैं। तर्क शास्त्र पर जीने वाले तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले आधुनिक मन को यह सब भ्रमात्मक एहसास भी लग सकते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जो जगत्, जो समाज हमारे सामने जीवित है, हम जिसके बीच ही रहे हैं, उसकी चिन्ता छोड़कर इन अदृश्य सच्चाइयों की खोज एक प्रकार की मृगमरीचिका है, शगल है। परन्तु जिस व्यक्ति के भीतर यें चरम जिज्ञासाएँ जागृत हो जाती हैं, जो जीवन और मृत्यु के सच्चे सम्बन्ध के प्रति

जिज्ञासु हो जाता है, जिसके भीतर इन लौकिक सच्चाइयों को चीर कर लोकोत्तर परिधि को छूने की अदम्य प्रेरणा जागृत हो जाती है, वह कहाँ रूक पाता है। संसार उसे क्या कहता है, उसकी चिन्ता उसे कहाँ होती है। वह तो आत्मा बन कर परमात्मा की अनुभूति करना चाहता है।

अज्ञेय की अनेक कवितायें इस मनोभूमि पर रची गई है। 'चक्रान्त शिला' श्रृंखला की दूसरी कविता में वे कहते हैं :-

पर सबसे अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ-
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
जोड़ता है मुझको विराट् से
जो मौन, अपरिवर्त, अपौरूषेय है
जा सब को समोता है।

(चक्रान्त शिला-2, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-38)

यह वन का सन्नाटा सब को तो विराट् से नहीं जोड़ता। यह वन, यह सागर, यह अनन्त आकाश सभी में तो अतीन्द्रिय एहसास नहीं भरते। जिसकी आत्मा जाग्रत हो जाती है, जो अपने भीतर पूरी सच्चाई और ईमानदारी से उतरता है, जो अपने अन्तस् के सच से साक्षात्कार करने की क्षमता अर्जित कर लेता है, उसी में यह सामर्थ्य भी उत्पन्न होता है कि प्रकृति का यह विराट् रूप उसे उस चरम विराट् से जोड़ सके। उसी श्रृंखला की तीसरी कविता में अज्ञेय कहते है :-

मैं वन में हूँ।
सब ओर घना सन्नाटा छाया है।
तब क्वचित्
कहीं मेरे भीतर ही यह कोई संगीत-वृन्द आया है।
वन-खण्डी की दिशा-दिशा से
गूँज-गूँज कर आते हैं आह्लाद और सम्मान के स्वर।
पीछे, अध-डूबे, अवसान के स्वर।

फिर सब से नीचे, पीछे, भीतर, ऊपर,
एक सहज आलोक विद्ध उन्मेष
चिरन्तर प्राण के स्वर।

(चक्रान्त शिला-3, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-34)

आरण्यक परिवेश कितना व्यक्ति को अपने भीतर उतरने का सामर्थ्य देता है, इसका प्रमाण हमारे ऋषियों की साधना है। अज्ञेय भी बार-बार वनों के सन्नाटे में जाते हैं। वनों के एकान्त में ही वे अपने भीतर के स्वर को सुनते हैं। वही एकान्त उन्हें विराट् के प्रति खोलता है और उससे जोड़ता है। वही उनमें आलोक विद्ध उन्मेष देता है और प्रणों के स्वर मुखर होते हैं।

जब ऐसी मनोभूमि पर रचनाकार पहुँच जाता है तो उसका सर्जक भाव भी पूर्णतः विसर्जित हो जाता है। उसी भूमि पर पहुँचकर अज्ञेय लिखते हैं :-

जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है
उतना ही मैं प्रेत हूँ।
जितना रूपाकार-सारमय दीख रहा हूँ
रेत हूँ।
फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिमा
मेरे अनजाने, अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है-
बस, उतना मैं खेत हूँ

(चक्रान्त शिला-8, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-41)

अपने सर्जक भाव से मुक्त हो जाने की यह भूमि सरलता से उपलब्ध नहीं होती। जब मनुष्य उस जगन्नियन्ता के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाता है, तभी वह ऐसा अनुभव कर सकता है। इस आत्म-समर्पण और आत्म-विसर्जन का चरम आख्यान अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' में है। इस कविता में अज्ञेय ने एक आख्यान के माध्यम से सर्जक के आत्म-विसर्जन की चरम अनुभूति की व्यंजना की है। अजित केश कम्बली असाध्य वीणा को तभी साध पाता है, जब वह अपने

को सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर देता है। समर्पण के चरम क्षण में वीणा उसके हाथों में झनझना उठती है। वीणा जिस पूर्णता के साथ बज उठती है, उसे सुनकर सभा विभोर हो उठती है। सभी मुक्त हो उठते हैं। अपने-अपने अहं को तिरोहित कर देते हैं। राजा, रानी, सभासद अहंमुक्त हो जाते हैं। अन्त में साधक केश कम्बली वीणा को भूमि पर रख देता है और कहता हैं :-

श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सब कुछ को सौंप दिया था-
सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्द हीन
सब में गाता है

(असाध्य वीणा, आँगन के पार द्वार, पृष्ठ-78)

अज्ञेय की लोकोत्तर चेतना उन्हें आत्म-विसर्जन की उस चरम भूमि पर ले जाती है, जहाँ उन्हें लगता है कि वे मात्र एक माध्यम हैं, जिसके द्वारा कोई अदृश्य और विराट् सत्ता अपने एक अंश को अभिव्यक्त करती है।

उपनिषदों में भी यही प्रश्न पूछा गया है। आँखे कैसे देखती हैं? कान कैसे सुनते हैं? इन्द्रियाँ कैसे अपना कार्य करती हैं? और उत्तर यही कि कोई और अदृश्य, नियामक सत्ता है जो इन इन्द्रियों के माध्यम से क्रियाशील है। परन्तु अज्ञेय का यह लोकोत्तरता का बोध न तो किसी कर्मकाण्ड की अपेक्षा करता है और न ही किसी ज्ञान काण्ड की उपज है। यह उनकी शुद्ध अनुभूति का प्रतिफल है। अनुभूति का सत्य ही उनके रचना-संसार में व्यक्त हुआ है। बहुत

पहले अज्ञेय ने अपनी एक कविता में लिखा था :-

जब नहीं अनुभूति मिलती
लोग दर्शन चाहते हैं।
उदधि बदले बूँद पाकर
विधि विधान सराहते हैं।

(इत्यलम्)

अनुभूति ही उनके जीवन की प्रेरणा रही है। वही उनके रचनाकर्म की कुँजी रही है, अनुभूति ने ही उन्हें दृष्टि दी है, सृजन की ओर उन्मुख किया है। वही अनुभूति लोकोत्तर जगत् से उनका साक्षात्कार कराती है। कहीं सागर, कहीं पर्वत, वन, कहीं आकाश कहीं निविड़ एकान्त, कहीं गहरी वेदना उन्हें उनके अन्तस्तल की गहराइयों में उतारते हैं। वहीं उन्हें उस अदृश्य की झलक मिलती है। कहीं गहरा अन्तर्मन्थन उसे आत्म साक्षात्कार की भूमि पर ले जाता है।

एक कविता में उन्होंने कहा है :-

यह अन्तर मन
यह बाहर मन
यह बीच
कलह की
-नहीं, जड़ नहीं। -मन्थानी
मथो, मथो,
ओ मन मथो
इस होने के सागर को
जो बँट चला आज
देवों-असुरों के बीच।
अब लो निकाल जो निकले
गागर भर!
आवे जब तर
तय कर लेना

क्या निकला यह?
अमृत? हलाहल?

(मथो, महावृक्ष के नीचे, पृष्ठ-19)

अन्तर और बाहर के बीच जो द्वन्द्व है, मन उसे मथ कर सत्य तक पहुँचना चाहता है। अस्तित्व के इस सागर को मथने का आह्वान कवि मन कर रहा है, क्योंकि मन में ही देव भी हैं असुर भी। कलह की मन्थानी भी है। कवि कहता है कि इस मनोमन्थन से जो निकले उसे अपने चित्त के सागर में भर लो। देखो यह अमृत है या हलाहल। कवि जिस मनोमन्थन की प्रक्रिया से जीवन की सच्चाइयों का साक्षात्कार करना चाहता है वह अनुभूत्यात्मक है।

अज्ञेय की एक कविता 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' में कवि उस जगन्नियन्ता की अनुभूति को एक बड़े ही मनोरम रूपक के माध्यम से व्यक्त करता है। कविता यूँ हैं :-

पहले मैं एक सन्नाटा बुनता हूँ।
उसी के लिए स्वर-तार चुनता हूँ।

ताना : ताना मजबूत चाहिए : कहाँ से मिलेगा?
पर कोई है जो उसे बदल देगा।
जो उसे रसों में बोर कर रंजित करेगा, तभी तो वह खिलेगा।
मैं एक गाढ़े का तार उठता हूँ
मैं तो मरण से बँधा हूँ; पर किसी के-और इसी तार के सहारे
काल से पार जाता हूँ।

फिर बाना : पर रंग क्या मेरी पसन्द के हैं?
अभिप्राय भी क्या मेरे छन्द के हैं?
पाता हूँ कि मेरा मन ही तो गिर्री है, होए है
उधर से इधर हाथ मेरा काम करता है
नक्शा किसी और का उभरता है।

यों बुन जाता है जाल सन्नाटे का
और मुझ में कुछ है कि उससे घिर जाता हूँ।
सच मानिये, मैं नहीं है वह
क्योंकि मैं जब पहचानता हूँ तब
अपने को उस जाल के बाहर पाता हूँ।

फिर कुछ बँधता है जो मैं न हूँ पर मेरा है,
वही कल्पक है।

(एक सन्नाटा बुनता हूँ, पहले मैं सन्नाटा बनता हूँ, पृष्ठ-11)

यह कविता कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें 'मैं' भी है और 'कल्पक' भी। 'मैं' समझता है कि वह बहुत कुछ कर रहा है, परन्तु बार-बार मानता है कि वह कुछ नहीं कर रहा है, पूरा नक्शा जो उभरता है वह तो 'कल्पक' का नक्शा है। और बुनता भी क्या है? सन्नाटा। मजबूत ताना खोजता है। परन्तु उसके गाढ़े के तार को रंगों से रंजित करने वाला वह नहीं, कोई और है। वह तो मरण से बँधा है, उसे काल से पार ले जाने वाला कोई और है। न छन्द उसके हैं, न अभिप्राय उसके हैं। वह तो माध्यम भर है। सन्नाटे का जाल बुन जाता है और तब वह पहचानता है कि 'कल्पक' तो कोई और ही है और जो जाल बुन गया है, वह पूरा का पूरा उसी की कल्पना का परिणाम है। यह रूपक कालीन की बुनावट का है, जिसमें उँगलियाँ बच्चों की चलती हैं और नक्शा मास्टर डिज़ाइनर का उभरता है। हम अपने को स्रष्टा समझते हैं, रचनाकार समझते हैं। परन्तु सृष्टि किसी और की होती है, हम मात्र उसके माध्यम होते हैं। स्रष्टा को पहचानने की यह भूमि ही अज्ञेय की लोकोत्तरता की तलाश की भूमि है। इस भूमि पर वह पूर्णतः विसर्जित है। यह अज्ञेय की रचना-यात्रा की चरम परिणति की भूमि है।

अज्ञेय की संस्कृति-चेतना

अज्ञेय के व्यक्तित्व और कृतित्व को यदि एक परिचय सूत्र में व्यक्त करना हो तो उन्हें हम संस्कृति पुरूष कह सकते हैं। उनके जीवन की साधना वास्तव में संस्कृति की ही साधना है। अज्ञेय की संस्कृति-चेतना को हम तीन धरातलों पर देख सकते हैं, एक उनका चिन्तन का धरातल, दूसरा उनका सृजन और तीसरा उनका जीवन। तीनों ही आयाम उनकी संस्कृति साधना के अत्यन्त गहरे आयाम हैं। सबसे पहले उनके चिन्तन को देखा जाये कि वे संस्कृति-चेतना को किस रूप में देखते हैं।

''संस्कृति शब्द यों तो बहुत पुराना है, लेकिन जिस अर्थ में हम आधुनिक युग में उसका प्रयोग करते हैं, उस अर्थ में उसका इतिहास लम्बा नहीं है। वास्तव में संस्कृति की वैसी परिकल्पना या अवधारणा का ही इतिहास बहुत लम्बा नहीं है-न इस देश में, न पश्चिमी संसार में। यह भी एक रोचक बात है कि आज हिन्दी और अंग्रेज़ी में जो दो शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं, दोनों के मूल में भावना एक-सी है-मानव प्राणी को एक वांछित अर्थात् पहले से निर्दिष्ट आदर्श के अनुकूल रूप देने की। जैसे 'संस्कृति' मानव प्राणी को 'दिया हुआ' मानकर उसे मनोवांछित संस्कार देना चाहता है, वैसे ही 'कल्चर' शब्द भी मानव प्राणी को 'दिया हुआ' मानकर उसे अंकुरित होने वाले बीज की तरह देख-भाल, गोड़ाई-सिंचाई, निराई-छँटाई आदि के द्वारा मनोनुकूल पौधे के रूप में विकसित देखना चाहता है।''[1]

परन्तु अज्ञेय इस अवधारणा के सामने प्रश्न चिह्न लगाते हुए पूछते हैं कि

अगर संस्कृति मानव प्राणी को किसी पूर्व निश्चित आदर्श के अनुरूप ढ़ालने की प्रेरणा अथवा प्रक्रिया का नाम है तो वह पूर्व निश्चित आदर्श आता कहाँ से है? और क्या वह वास्तव में पूर्व निर्दिष्ट है? ताकि स्वयं मानव के सया उसकी संस्कृति के साथ मिलकर विकासमान है?

अज्ञेय कहते हैं कि जिन्हें हम आज सांस्कृतिक आदर्श कहते हैं, वे पहले भी थे। समाज उनके बिना चल ही नहीं सकता था। परन्तु तब हम उन्हें सांस्कृतिक आदर्श नहीं कहते थे, क्योंकि संस्कृति की अलग से भारतीय चिन्तन-परिधि में कोई अवधारणा थी ही नहीं। वे सारे आदर्श धर्म के ही आदर्श थे। ''धर्म की जैसी व्यापक परिकल्पना यहाँ थी, वैसी अवधारणा संसार के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं हुई।...धर्म की वैसी व्यापक परिभाषा संसार की किसी संस्कृत में नहीं मिलेगी।''[2] इस दृष्टि से देखें तो भारतीय मानस में एक लम्बे समय तक धार्मिक चेतना और संस्कृति की चेतना में कोई भेद नहीं था। जो मूल्य आज संस्कृति के मूल्य माने जाते हैं, उनमें से अधिकाशं हमारी धार्मिक चेतना के भी मूल्य थे।

इसी क्रम में अज्ञेय कहते हैं कि संस्कृति मूलतः एक मूल्य-दृष्टि और उससे निर्दिष्ट होने वाले निर्माता प्रभावों का नाम है- उन सभी निर्माता प्रभावों का, जो समाज को, व्यक्ति को, परिवार को, सबके आपसी सम्बन्धों को, श्रम और सम्पत्ति के विभाजन और उपयोग को, निरूपित और निर्धारित करते हैं।[3] लेकिन अज्ञेय इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि ''संस्कृतियाँ लगातार बदलती हैं क्योंकि मूल्य-दृष्टि भी लगातार बदलती है, क्योंकि भौतिक परिस्थितयाँ भी लगातार बदलती हैं। लेकिन संस्कृति केवल भौतिक परिस्थतियों का परिणाम नहीं है, क्योंकि वह अनिवार्यतया भौतिक जगत्, जीवन जगत् के साथ मानव जाति के सम्बन्ध पर आधारित है और वह सम्बन्ध ज्ञान के विकास और संवेदन के विस्तार के साथ-साथ बदलता है। संस्कृति उन सम्बन्धों का निरूपण भी करती है, अर्थात् वह एक साथ उनका परिणाम भी है और आधार भी।'' इस कथन में ऊपर से अन्तर्विरोध झलकता है, परन्तु ऐसा नहीं है। यह गतिशील समाज का एक अनिवार्य पक्ष है।

अज्ञेय संस्कृति-चेतना पर विचार करते हुए आधुनिक युग के एक विशेष पक्ष पर विचार करना जरूरी समझते हैं। वह पक्ष संस्कृति और विज्ञान के सम्बन्ध का

है। आधुनिक युग को वैज्ञानिक युग कहते हैं। सबसे पहली पहचान ही आधुनिकता की उसकी वैज्ञानिकता से, वैज्ञानिक दृष्टि से की जाती है। परन्तु इस वैज्ञानिक दृष्टि को भी गहराई से समझने की ज़रूरत है। विज्ञान को मूल्य-निरपेक्ष कहा जाता है। कहा जाता है कि विज्ञान वस्तु-सत्य से सम्बन्ध रखता है और विषयी-निरपेक्ष है। इसलिए मूल्य-सापेक्ष है और परिवर्तनशील है। इसी तर्क के आधार पर वैज्ञानिक दृष्टि को मूल्य-निरपेक्ष कहा जता है।

अज्ञेय इस मान्यता से अपनी असहमति बतलाते हैं। वे पूछते हैः ''क्या सचमुच विज्ञान मूल्य-निरपेक्ष है या होता है, या कभी हुआ है? कुछ दशकों पूर्व पश्चिम के वैज्ञानिकों में जो एक विशेषण ज़ोरों से प्रचलित था-'वैल्यू फ्री'। क्या उसमें वास्तव में कोई सार है? क्या वैज्ञानिक का अपना आग्रह-कि विज्ञान का सम्बन्ध सत्य के शोध से है-अपने आप ही इस तर्क को नहीं काट देता? क्या सत्य ही एक चरम मूल्य नहीं है? विज्ञान भी सत्य को चरम लक्ष्य और परम इष्ट मानता है और सभी धर्मों ने भी कहा हैः 'गॉड इज़ ट्रुथ', 'एकम् सत्', 'सत्यमेव जयते', 'सत्यंवद', 'धर्मम् चर'--- 'एष आदेशः'। धर्मों ने प्रायः सत्य और धर्म में न केवल भेद नहीं किया है बल्कि अभेद का भी आग्रह किया है-धर्म ही सत्य है और सत्य ही धर्म है। ज्ञया बात वास्तव में यह नहीं है कि विज्ञान भी मूल्य-निरपेक्ष नहीं है, केवल पूर्वाग्रह-निरपेक्ष है? ''वैज्ञानिक का यह प्रयास रहता है कि उसका शोध राग-रंजित न हो। किन्तु संस्कृतियाँ राग-सत्य और भाव-सत्य को भी उतना ही महत्त्व देती हैं। उनका सम्बन्ध केवल वस्तु-जगत् से नहीं बल्कि वस्तु-जगत् के साथ अपने सम्बन्ध से होता है। ''और ये सम्बन्ध जितने भौतिक होते हैं, उतने ही रागात्मक और आनुभविक, आस्तिक और आध्यात्मिक भी। यह तो कहा जा सकता है कि संस्कृति के सत्यों और विज्ञान के सत्यों में अन्तर होता है, लेकिन इस बात का कोई अर्थ नहीं है कि विज्ञान मूल्य-निरपेक्ष होता है। ''विज्ञान के सामने मूल्यों का एक बहुत बड़ा संकट है, एक बहुत बड़ी चुनौती है, जिसका सामना विज्ञान एक सफल मूल्य-दृष्टि और एक अध्यात्म-विज्ञान अपनाये बिना कर ही नहीं सकता।''[4]

आज विज्ञान ने जो संभावनायें अपने समक्ष अर्जित की हैं, उन्हीं से वह सहम गया है। आज विश्व को विज्ञान ने सम्पूर्ण विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया

है। अतः आज वह मूल्य-निरपेक्ष होने की बात सोच ही नहीं सकता। अज्ञेय ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है :-

''वास्तव में यही कहना आज सही होगा कि सारे संसार में बड़े वैज्ञानिक आज फिर एक नैतिक चुनौती की देहरी पर खड़े हैं-नैतिक चुनौती अर्थात् मूल्य-दृष्टि की चुनौती। यह मानना सही नहीं है कि मूल्य-दृष्टि केवल संस्कृति की देन होती है अथवा केवल विज्ञान की उपज होती है। लेकिन विज्ञान कभी मूल्य-निरपेक्ष नहीं हो सकता और संस्कृति भी कभी उन सत्यों के प्रति एकान्त उदासीन नहीं हो सकती, जिनका आधार भौतिक जगत् से, उसकी कामना और आकांक्षा से, उसके सुख-दुःखों से, उसके सामाजिक परिवेश से, और परिवेश के बन्धनों से अपेक्षयामुक्त होने अथवा रहने की उसकी सहज प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। विज्ञान सदा भाव-ग्रहों और राग-बन्धों से मुक्त होना चाहता है। संस्कृति मुख्यतया अपने को राग-बन्धों से जोड़ती है। लेकिन यह भेद दोनों की समानान्तर यात्रा का ही निरूपण करता है; विरोधी लक्ष्यों का नहीं।''[5]

अज्ञेय ने संस्कृति की अनेक परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि चाहे संस्कृति की समग्रता बोधी परिभाषा हो या सौन्दर्यवादी, व्यक्ति-चेतना केन्द्रित परिभाषा हो या समाज-चेतना को महत्त्व देने वाली, आदर्शवादी हो या यथार्थवादी हो या किसी भी परिभाषा से हम चलें, ''हम मानस के समग्र कर्मों की ओर जाने को बाध्य हो जायेंगे। अवश्य ही हर संस्कार का सम्बन्ध चेतना के भी संस्कार से है तो स्पष्ट है कि हमारे संवेदनों के क्षेत्र का जितना विस्तार होगा हमारी संस्कृति भी उतनी ही सम्पन्नतर, व्यापकतर और अधिक ग्रहणशील होगी; और इस प्रकार हमारी मूल्य-दृष्टि भी अपने क्षेत्र का विस्तार करने और अपने विस्तार को विशदतर बनाने की ओर उन्मुख होगी। और हमारा आनंद-बोध भी एक तरफ व्यापकतर चेतना अपनाना सीखे, दूसरी तरफ अपने संवेगों को ज़्यादा बारीकी से देखना होगा, अधिक महीन छलनी से छानना होगा।''[6]

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति-चेतना का प्रश्न अज्ञेय की दृष्टि में उतना परिभाषा का प्रश्न नहीं है, जितना मन और चित्त के संस्कार का प्रश्न है और इसीलिए एक सीमा तक आध्यात्मिकता का प्रश्न भी है। कहा जा सकता है बिना आध्यात्मिक हुए भी संस्कृति से सरोकार सम्भव है। हाँ, सम्भव तो है, परन्तु

वह संस्कृति एक अधूरी संस्कृति होगी।

संस्कृति के एक विशिष्ट आयाम पर अपने विचार रखते हुए अज्ञेय लिखते है:-

''संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना का नारी से और समाज में नारी के स्थान से गहरा सम्बन्ध है।'' कथन के स्तर पर तो हम नारी की पूजा का बखान करते हैं। परन्तु आचरण में हर स्तर पर नारी का शोषण और अपमान करते हैं। दो पुरूष एक दूसरे को क्रोध में गाली भी दें तो उस गाली में भी अपमानित और लांछित उन पुरूषों से सम्बन्धित स्त्रियाँ ही होती है। हम समाज में स्त्री को ही हीनतम स्थान देकर चाहते हैं कि हमें सुसंस्कृत समझा जाये। यह विचित्र बात है कि पुरूष जब स्त्री से प्रेम करता है तो अपना सब कुछ समर्पित करने को उद्यत रहता है, परन्तु उसी स्त्री को निरन्तर लांछित और अपमानित करने में उसे कोई संकोच नहीं। किसी भी संस्कृति की अवधारणा में स्त्री के प्रति पुरूष के इस उत्पीड़क और अपमानजनक व्यवहार को स्थान नहीं दिया जा सकता।

मानव-मूल्यों की श्रृंखला में स्वाधीनता एक केन्द्रीय मूल्य है। अज्ञेय ने संस्कृति के सन्दर्भ में इस मूल्य पर विचार करते हुए लिखा है :-

''दर्शन शास्त्रियों में ऐसे अनेक होंगे जो कहेंगे कि यह मूल्य पश्चिमी सभ्यता का है, कि भारतीय सभ्यता में धर्म को और उसके अधीन विश्व मात्र से तादात्म्य और सामंजस्य को जो महत्त्व दिया गया है, पश्चिमी संस्कृति में उसी के समकक्ष स्वातंत्र्य का मूल्य रचा गया है।'' अज्ञेय कहते हैं कि यह दृष्टि भी अपना औचित्य एक सीमा तक रखती है। अगर हम दूसरी संस्कृतियों के मूल्यों को भी पहचान और समझ सकते हैं तो हमारे संवेदन का विस्तार बढ़ता है। हम अधिक संस्कारवान होने की अर्हता प्राप्त करते हैं और इसलिए अपनी संस्कृति को सम्पन्नतर बना सकने की स्थिति में ही आते हैं।

निष्कर्ष में अज्ञेय मानते हैं कि ''संस्कृति का अनिवार्य सम्बन्ध मूल्य-दृष्टि से होता है और अगर हम में संस्कृति की चेतना है अथवा जागती है तो उसका अर्थ केवल इतना नहीं है कि हम परम्परा से चले आये मूल्यों को पहचान लें और स्वीकार कर लें। चैतन्य केवल स्वीकार-भाव नहीं है। मूल्य-दृष्टि की चेतना मूल्यों

की अर्थवत्ता की अनवरत खोज की प्रक्रिया है। अर्थवत्ता की यह खोज मूल्यों की प्रत्यभिज्ञा तक ही सीमित नहीं रह सकती, बल्कि उनका पुनर्मूल्यांकन और प्रमाणीकरण भी करती चलती है और वैसा करना अपना अनिवार्य कर्तव्य मानती है। कोई भी चेतना सम्पन्न संस्कृति एक जिज्ञासु भाव अथवा प्रश्नाकुलता लिए रहती है।''[7]

अज्ञेय ने भारतीय संस्कृति पर विश्व संस्कृति के सन्दर्भ में विचार करते हुए भी अनेक बातें विचार के लिए रखी हैं। वे कहते है : ''एक समर्थ और प्रबल गतिमान विदेशी सभ्यता से टकराहट में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि भारतीय संस्कृति क्या है, उसमें क्या मूल्यवान और स्पृहणीय है, किन मूल्यों में उसका सामर्थ्य निहित है और कौन-सी प्रवृत्तियाँ उसे वह बल और वह गतिशीलता दे सकती हैं जिसकी उसे पश्चिमी संस्कृति का मुकाबला करने के लिए आवश्यकता होगी।''[8]

विश्व संस्कृति की बात को अज्ञेय सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना चाहते हैं। वे कहते है : ''विश्व संस्कृति की आरती उतार कर मानो संस्कारी भारतीय होने के दायित्व से हम छुट्टी पा लेते हैं।'' आदर्श और यथार्थ के बीच भारतीय मानस हमेशा ही एक गहरी खाई रखता है। उसका आर्दश होती है विश्व संस्कृति, आदर्श होती है विश्व राजनीति और विश्व नागरिकता। उसका यथार्थ होता है-आँचलिक और प्रादेशिक संस्कृति, यथार्थ है प्रादेशिक और मांडलिक राजनीति। अज्ञेय का कहना है कि जब तक इस यथार्थ, इस आदर्श, और इस चुनौती की सही पहचान और इसका सम्यक् स्वीकार हम में नहीं है, तब तक हम एक आत्म प्रवंचना के कुहासे में ही जीते रहेंगे।

संस्कृति-चेतना के प्रश्नों पर अज्ञेय ने केवल अपने चिन्तन परक लेखों में ही विचार नहीं किया है। उनका सृजन भी संस्कृति की चेतना की गहरी व्यंजनाओं से भरा पड़ा है। उनके काव्य में ऐसी अनुभूतियों की विपुल अभिव्यक्ति है। उनके उपन्यासों और कहानियों में संस्कृति के प्राणवान तत्त्व यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनकी कविताओं से एकाध अंश इस दृष्टि से उधृत करना उचित होगा।

ईश्वर
एक बार का कल्पक
और सनातन क्रान्ता है :
पर उनकी कल्पना, कृपा और करूणा से
हम में यह क्षमता है
कि अपनी व्यथा और अपने संघर्ष में
अपने को अनुक्षण बदलते चलें,
अपने संसार को अनुक्षण बदलते चले,
अनुक्षण अपने को परिक्रान्त करते हुए
अपनी नयी नियति बनते चलें![9]

अपनी व्यथा और अपने संघर्ष को अनुक्षण जनते चले जाना, अपने संसार का अनुक्षण बदलते चले जाना, अनुक्षण अपने को परिक्रान्त करते हुए अपनी नयी नियति बनते चले जाना, यही तो संस्कृति करती है। संस्कृति की यही सर्जनात्मक परिणति है। अज्ञेय अपने सृजन में जीवन भर यही करते रहे। सागर ने उन्हें यही दृष्टि दी, वन के घने अन्धकार भरे सन्नाटे में उन्हें यही अनुभूति प्राप्त हुई। जीवन, प्रकृति सभी ने उनके भीतर एक सांस्कृतिक उन्मेष भरा और उसी सांस्कृतिक उन्मेष को वे अपनी रचनाओं के माध्यम से संक्रमित करते रहे।

अज्ञेय के उपन्यास और मनुष्य की नियति

शेखर : एक जीवनी - व्यक्ति और युग का संश्लेष

'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेय का पहला उपन्यास है। इसका प्रकाशन हुआ तो अज्ञेय 30 वर्ष के थे, परन्तु इसकी लेखन-प्रक्रिया शुरू हुई तो वे सम्भवतः 20 वर्ष के ही रहे होंगे। सन् '30 में इस कृति का बीज-वपन हुआ। सन् '41 में प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ। 'शेखर' का प्रणयन असाधारण परिस्थितियों में हुआ। वह ''घनीभूत वेदना के केवल एक रात में देखे हुए Vision को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है''।[10] वह रात एक असाधारण रात थी। शेखर फाँसी की अनिवार्य सम्भावना से जूझ रहा था। अपने विगत जीवन के अर्थ को खोज रहा था। केवल अपने लिए नहीं, वरन् समाज के लिए। मात्र उन्नीस वर्ष का जीवन उसने जिया था। उतने में ही उसने पराधीनता का, उससे मुक्ति पाने वाली क्रान्तिकारी चेतना का, सघनतम प्रेम का, यातना के चरम का अनुभव कर लिया था। उसी सघन और तीव्र जीवन का वह प्रत्यवलोकन करता है और उसमें से अर्थवान् तत्त्वों की पुनर्रचना करना चाहता है। सारा जीवन उसके समक्ष खुलने लगता है। वह अपने से पूछता है : ''अगर यही मेरे जीवन का अन्त है, तो जीवन का मोल क्या है, अर्थ क्या है, सिद्धि क्या है-व्यक्ति के लिए समाज के लिए, मानव के लिए?''[11]

अज्ञेय ने इस उपन्यास को जब लिखा था तो एक प्रकार से वे ही शेखर थे। फाँसी उन्हें ही मिलने वाली थी। प्रेम उन्होंने ही किया था। क्रान्तिकारी वे ही थे। अपने माध्यम से ही उन्होंने शेखर के जीवन के अर्थों की खोज की। हमें देखना

यह है कि सर्वथा नयी उम्र का क्रान्तिकारी नौजवान जो लेखक और कवि भी है, प्रेमी भी है और उत्कृष्ट देशभक्त भी, अपने उपन्यास में किन मानव-मूल्यों की स्थापना करता है, करना चाहता है। निश्चय ही अज्ञेय का व्यक्तित्व उस काल-बिन्दु पर अपनी परिपक्वता के लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना जायेगा, जितना तीव्रता, सघनता एवं आत्मबलिदानी संवेदना के लिए।

'शेखर : एक जीवनी' में हम कई भावनाओं का तीव्र संश्लेष पाते हैं। शेखर का बचपन और उसका विशिष्ट प्रकार का मनोवैज्ञानिक विकास, शेखर में प्रेम की गहनतम संवेदना, शेखर के मानस में देश की पराधीनता के प्रति गहरा आक्रोश और उसे उखाड़ फेंकने के लिए स्वयं को उत्सर्ग करने का क्रान्तिकारी संकल्प। शेखर का अदम्य साहस, शेखर की निर्भयता, शेखर का एक सृजनशील व्यक्तित्व। ये सारे तत्त्व उपन्यास में अत्यन्त संश्लिष्ट रूप में संगुंफित हैं। हम इनका पृथक्-पृथक् मूल्यांकन करेंगे, यद्यपि उन्हें एक-दूसरे से अलग करके देखना रचना के प्रति और रचनाकार के प्रति भी एक गहरा अन्याय है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम यह पार्थक्य कर रहे हैं। निश्चय ही इस पृथक्करण में चरित्र की विविक्तता का क्षरण होगा। सबसे पहले 'शेखर : एक जीवनी'- के प्रेम-पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहूँगा। शेखर एक ऐसा क्रान्तिकारी है, जिसकी रगों में प्रेम का रस बहता है। परन्तु उसका प्रेम, निजी प्रेम उसके देश प्रेम में कहीं से अवरोधक या बाधक नहीं है। पूरे उपन्यास में कोई ऐसा प्रसंग नहीं है जहाँ अपने प्रेम के कारण शेखर अपने क्रान्तिकारी दायित्व में शिथिल होता दिखे। उसका प्रेम इतना गहरा और उत्सर्ग मूलक है कि वह कहीं भी उसे कर्त्तव्य विमुख कर ही नहीं सकता। उसके प्रेम में सबसे बड़ा तत्त्व वेदना का तत्त्व है। शशि उसके रोम-रोम में व्याप्त है। शशि को ही सबसे पहले वह याद करता है, जब वह फाँसी के मुहाने पर खड़ा होकर जीवन का प्रत्यवलोकन करता है, वह कहता है :-

''सबसे पहले तुम शशि। इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आई या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है-ठीक वैसे ही जैसे तलवार में धार का होना सान की पूर्व कल्पना करता है। तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज

होता रहा है- जिस पर मँज-मँज कर मैं कुछ बना हूँ, जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है- लज्जित होने का कोई कारण नहीं जानता।''[12]

शशि की स्मृति शेखर के लिए सबसे प्रथम, सबसे आप्लवनकारी एवं सबसे पावन स्मृति है। शशि ने शेखर के व्यक्तित्व को निरन्तर सघन, अर्थवान् एवं सृजनशील बनाया है। शशि जानती है कि शेखर क्रान्ति के पथ पर है। परन्तु कभी भी उसे प्रमाद ही ओर नहीं ले जाती।

शशि और शेखर का प्रेम कोई प्रथम दर्शन का प्रेम नहीं है। वह आँच में तपा हुआ, जीवन के लम्बे अनुभवों में विकसित हुआ प्रेम है। बचपन में उस प्रेम की नींव पड़ी है। शशि शेखर की मौसी की बेटी है। सामान्य सामाजिक मान्यताओं के अनुसार यह प्रेम वर्जित दायरे के बीच पनपने वाला प्रेम है। परन्तु न शशि उस वर्जना की शिकार है न शेखर। बीच-बीच में शेखर और शशि के मध्य लम्बे अन्तराल आते हैं, परन्तु फिर मिलते ही सारे व्यवधान तिरोहित हो जाते हैं। शेखर जेल में बन्दी है। उस पर झूठी हत्या का आरोप है। शशि उससे जेल में मिलने जाती है। और पूछ बैठती क्या शेखर उस काण्ड में शामिल था? शेखर उत्तर देता है :-

''नहीं।''

पुनः वह शशि से पूछता है :-

''क्यों, शशि? तुम्हें तसल्ली हुई क्या?''

''कैसी तसल्ली?

''कि मैं निर्दोष हूँ?''

''ऊँ-हाँ, कुछ तो हुई ही-''

''क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो?''

''तब भी तसल्ली होती, मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने से ही मुझे सन्तोष हो जाता है डर नहीं होता।''[13]

शशि की इस आश्वस्तिपूर्ण उक्ति से शेखर को गहरा आत्म-संतोष हुआ। परन्तु इसके बाद जब शशि ने कहा, ''वीर कभी अपराधी नहीं होता।'' तब तो शेखर निहाल ही हो गया। उसके भीतर एक गहरे रोमांच की, आह्लाद की लहर उठ आई। शशि और शेखर का प्रेम उचित परिणति तक नहीं पहुँच सका। शेखर

जेल में था, शशि की माँ ने शशि का विवाह किसी व्यक्ति से तय कर दिया। शशि जेल जाती है और यह समाचार शेखर को बतलाती है और उसकी प्रतिक्रिया जानना चाहती है। शेखर के लिए यह प्रश्न निगूढ़ बन जाता है। वह सोच में डूब जाता है। शेखर एक पूर्णतः स्वाधीन व्यक्ति है। वह शशि को भी स्वाधीन मानता है। उसके मन में बारम्बार एक ही बात कौंधती है कि यह जीवन का एक निर्णायक क्षण है। शशि को स्वयं निर्णय लेना चाहिए कि वह माँ के प्रस्ताव के प्रति 'हाँ', कहे या 'ना'। शेखर ने शशि को पत्र लिखा :-

''हम किसी को मार्ग नहीं बता सकते, किसी को प्रकाश भी नहीं दिखा सकते, हम कर सकते हैं तो इतना ही कि पथिक के पैर दाब दें, उसका कवच कस दें, अगर उसके पास दीया है तो उसकी बत्ती कुछ उकसा दें।''[14]

शेखर ने शशि के स्वाधीन विवेक के ऊपर जो आत्मनिर्णय का दायित्व डाला, उसे शशि दूसरे प्रकार से लेती है। वह सोचती है कि अगर शेखर प्रेम के अधिकार से मुझे विवाह से मना नहीं कर सकता तो मुझे कोई अधिकार नहीं है कि मैं उस पर अपने को आरोपित करूँ। मैं क्यों अपनी उत्कटता दिखलाऊँ? शशि विवाह के लिए हाँ कह देती है। शशि और रामेश्वर का विवाह हो जाता है। इस विषम त्रासदी के लिए कौन उत्तरदायी है? शेखर का स्वाधीन विवेक पर विश्वास करने वाला व्यक्तित्त्व या शशि का स्वाभिमानी व्यक्तित्व? परन्तु यह त्रासदी अपनी परिणति पर पहुँचती है। शशि रामेश्वर द्वारा लांछित और अपमानित होती है। शेखर तो उसके अन्तस् में था ही और शेखर के अन्तस् में शशि ही थी। दोनों साथ रहने लगते हैं। शशि बीमार रहती है। प्रेम का उल्लास उसने नहीं जाना, न शेखर ने। परन्तु प्रेम की वेदना दोनों ने बहुत गहराई से जानी।

शशि बिस्तर पर पड़ी है। शेखर अपने क्रान्तिकारी क्रियाकलाप में अक्सर बाहर जाता है। शशि कागज़ के टुकड़ों पर कुछ लिखती रहती है। बाद में शेखर उन्हें पढ़ता है। उसे लगता है शशि का व्यक्तित्व उससे बहुत बड़ा है। बहुत गहरा है। शशि का उत्सर्ग भी महत्तर है। शशि अपने पति से पिट कर और अपमानित होकर भी शेखर के साथ किसी विवशता में नहीं रहती है। वह शेखर को कृतकृत्य करने के लिए शेखर के साथ रहती है। शेखर के कृती व्यक्तित्व को सृजनोन्मुख करने के लिए शेखर के साथ रहती है। शशि के व्यक्तित्व का संस्पर्श वह समीर

है, जो शेखर को सुरभित करता रहता है। उसे सृजनशील बनाता है।

शशि प्रारम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण इयत्ता का प्रतिफलन शेखर में ही देखने को कृत संकल्प है। बार-बार शेखर को प्रेरणा से भरती है। उसकी रचनात्मक शक्ति को जगाती है। एक स्थान पर तो वह शेखर से साफ शब्दों में कहती है कि तुम मेरे लिए लिखो। जब वह अवसान के गर्भ में विलीन होने जा रही है, तब भी कहती हैः ''पर तुम में मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ जो मेरा है।''[15] वह आगे कहती हैः ''और अमूर्त होकर मैं-तुम्हारा अपना आप हूँ, जिसे तुम नाम नहीं दोगे।''[16]

शशि और शेखर के गहन प्रेम सम्बन्ध में शरीर तो नहीं के बराबर है। आत्मा से आत्मा, मन से मन, हृदय से हृदय का तादात्म्य ही इसका केन्द्रीय तत्व है। परन्तु एक स्थल पर अज्ञेय ने इस आत्मिक सम्बन्ध को एक अत्यन्त ही मार्मिक आयाम दिया है। अज्ञेय के ही शब्दों मेंः ''शशि शेखर को अपने पास बुलाती है और बिना एक शब्द कहे अपनी ठोड़ी उठाती है। क्षण भर शेखर कुछ नहीं समझता, फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है। और वह उठे हुए अर्द्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है। झुकते-झुकते उसकी आप्लवकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है। एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए और होठों के निकट पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़ कर अपना कर्णमूल शशि के ओठों से छुवा देता है। ओठ तप्त हैं-ज्वर से; उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन-सी उसके माथे में दौड़ जाती है, तब चेतना की एक नई लहर से बाधित वह झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध, किन्तु बेझिझक ओठ चूम लेता है-निर्द्वन्द्व वरद, दीर्घ चुम्बन- - - -।''

इस चरम स्थिति तक पहुँचने में शेखर को अनेक सोपान पार करने पड़े। अपने और शशि के सम्बन्धों की अनेक बार व्याख्याएँ करनी पड़ी, परन्तु शशि प्रारम्भ से ही निर्भ्रान्त थी। उसके भीतर कोई द्विधा, कोई अन्तःसंघर्ष कभी नहीं था। वह प्रेम की पावन ज्योति से आपाद मस्तक नहाये हुई थी। शेखर इस चरम तक पहुँचने के पहले एक बार शशि से कहता है, ''कब से तुम्हें बहिन कहता आया हूँ, पर बहिन जितनी पास होती है, उतनी पास तुम नहीं हो, इसलिए वह

जितनी दूर होती है-उनती दूर भी तुम नहीं हो।''

'शेखर : एक जीवनी' का केन्द्रीय प्राण तत्व शशि और शेखर का सघनतम प्रणय ही है। इस घनीभूत प्रणयाख्यान में ही इस कृति की अपनी अनेक विशिष्टताएँ घुली हुई हैं। वेदना, आत्मोत्सर्ग, सृजन, क्रान्ति, सभी इसी में घुले हुए हैं। परन्तु शेखर की धार्मिता अपने आप में भी अत्यन्त विचारणीय पक्ष है। मनुष्य की नियति को लेकर अज्ञेय अपनी भूमिका में लिखते हैः ''क्रान्तिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं। लेकिन यह नियति वाद उन्हें अक्षम और निकम्मा बनाने वाला कोरा भाग्यवाद नहीं होता है, वह उन्हें अधिक निर्भय होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है। वह गीता के कर्मयोग से एक सीढ़ी आगे होता है-यदि यूँ कहा जाये कि क्रान्तिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर, जीवन की विज्ञान संगत कार्य-कारण परम्परा पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है तो शायद सच्चाई के निकट होगा।''[17]

'शेखर : एक जीवनी' का क्रान्तिकारी शेखर एक ऐसा व्यक्ति है जो पूरा-पूरा समाज, राष्ट्र और देश के सरोकारों से लबरेज है। वह कोई अपने में डूबा हुआ व्यक्ति नहीं है। वह प्रेम भीकरता है तो उसका प्रेम उसकी क्रान्तिधर्मिता को रंच मात्र भी अवरोध नहीं पहुँचाता।

शेखर तो प्रारम्भ से ही विद्रोही है। उसका विद्रोह छूँछा और नकारात्मक विद्रोह नहीं है। वह अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से विद्रोह करता है। उसने बचपन में जलियांवाला बाग की यात्रा की है। निहत्थे भारतीयों पर अंग्रेज़ों द्वारा गोलियों की वर्षा का पूरा यातनामय घटना क्रम वह वहाँ जाकर आत्मसात् कर चुका है। अपने अंग्रेज़ ट्यूटर को चिढ़ा कर भगा चुका है। विद्रोह के बारे में उसकी कल्पना अत्यन्त अर्थगर्भित कल्पना है। वह प्रारम्भ में ही लिखता है विद्रोही जन्मजात होते हैं, बनते नहीं हैं, न बनाये जाते हैं।

'शेखर : एक जीवनी' अनुभूति के क्वथनांक पर रचा गया उपन्यास है। इसीलिए वह कालजयी रचना बन गई है। आज से साठ वर्ष पहले उसकी रचना हुई, परन्तु उसकी आभा, उसकी प्रेरणा कहीं से मलिन होती दृष्टिगोचर नहीं होती। आज भी वह उतनी ही अर्थवर्ती रचना है। यह भी एक आश्चर्य-विभोर करने वाली बात है कि अज्ञेय की इस पहली प्रमुख कृति में ही वे सारे

मानव-मूल्य अपनी पूर्णता में रचे गये हैं, जिनकी साधना अज्ञेय अपनी सम्पूर्ण रचना-यात्रा में करते रहे।

व्यष्टि और समष्टि की एकात्मता, उनके जीवन और सृजन का एक केन्द्रीय मूल्य है। 'शेखर' में यह मूल्य अपनी पूरी अर्थवत्ता के साथ व्याप्त है। शेखर और शशि दोनों ही ऐसे चरित्र हैं, जिनमें व्यक्ति की स्वाधीनता, उसकी पूर्णता, उसकी अर्थवत्ता और साथ ही उनका समष्टि-बोध, समाज, देश और राष्ट्र के प्रति उनका दायित्व-बोध, पूर्ण रूप से जाग्रत है। दोनों ही आत्मदान और आत्मोत्सर्ग के अद्‌भुत उदाहरण हैं। शेखर जेल में बाबा मदन से जीवन के सारे अर्थवान सूत्रों को प्राप्त करता है। बाबा मदन सिंह ने जेल में शेखर को अनेक जीवन-सत्यों से साक्षात् कराया था, जिन्हें उन्होंने अपने सम्पूर्ण यातना-भरे जीवन में अर्जित किया था। कुछ सूत्र यों हैं :-

''दासता-एक दम घृणित परवशता-और किसे कहते हैं? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, असत्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को जिसमें हम सत्य और असत्य को जानने में असमर्थ जो जाते हैं। दासता वह बन्धन है, वह मनाही है जो हमारे ज्ञान माँगने का अधिकार छीन लेती है।''[18] इसी प्रकार बाबा मदन ने एक बार कहा था :-

''अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है।'' यह दर्द और विश्वास स्वयं शेखर के जीवन में पूरी तरह घुले हुए है। आत्म बलिदान यदि शेखर के जीवन का व्यक्तिगत प्रश्न है तो उतना ही सामाजिक, समष्टिगत प्रश्न भी है। उसके मन में जब यह सवाल उठता है कि क्या यह व्यक्तिगत प्रश्न है या सामाजिक उत्तरदायित्व तो यह प्रश्न उठना ही उसके चरित्र की सामाजिक संलग्नता को व्यक्ति करता है।

इसी प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' में वेदना एक धनीभूत तत्त्व है। भूमिका में ही अज्ञेय कहते हैं-''वेदना एक दृष्टि देती है। घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विज़न' को शब्दबद्ध करने का प्रयास है-शेखर : एक जीवनी।'' वही वेदना शेखर के जीवन में आद्योपान्त व्याप्त है। अपने सारे जीवन-मूल्यों को, सारे संकल्पों को शेखर उसकी वेदना की आँच में तपा कर खरा कंचन बनाता है। बाबा मदन की मृत्यु के उपरान्त, शशि के निरन्तर घुलते हुए अवसानोन्मुख

जीवन-पथ का वह सहयात्री है। वेदना उसके लिए कल्पना या अवधारणा की वस्तु नहीं है। वेदना में ही वह जीता है। वेदना ही उसके भीतर सृजन के अंकुर को विकसित करती है, पल्लवित एवं पुष्पित करती है।

स्वाधीनता तो जैसे 'शेखर : एक जीवनी' की प्रेरणा ही है। शेखर नितान्त शैशव काल से जीवन के अन्तिम चरण तक एक स्वाधीन व्यक्तित्व है। स्वाधीन व्यक्तित्व की साधना 'शेखर : एक जीवनी' का शिखर उद्देश्य है। शेखर के स्वाधीन व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रसिद्ध समालोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है :-

''शेखर' के लेखक की जिज्ञासा और चिन्तन का प्रधान क्षेत्र मानवीय व्यक्तित्व है। स्वयं शेखर के शब्दों में इस व्यक्तित्व की सम्पूर्ति-आपूर्ति की कहानी कहना रचना का मुख्य उद्देश्य है और सम्पूर्ति-आपूर्ति भी समग्रतः नहीं है, उन दोनों के बीच की कोई स्थिति है। रचना में इस केन्द्रीय व्यक्तित्व के रूप की समस्या कथाकार के सामने है। 'प्रवेश' के लगभग अन्त में कथा का उत्तम पुरूष प्रश्न करता है, अपने व्यक्तित्व को 'मैं' समझूँ या 'वह' या 'तू'? और अन्ततः तटस्थता के निर्वाह की दृष्टि से वह यही निर्णय लेता है कि 'जिसकी कहानी में निहित सन्देश को मैं प्रकट करूँगा, वह 'वह' ही है।''

(अज्ञेय और अधुनिक रचना की समस्याः डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ-56)

उसी लेख में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है : ''पीड़ा और प्रेम के माध्यम से, जो मानवीय चरित्र के विशिष्ट अंग हैं- और उनसे व्युत्पन्न सर्जनात्मक ऊर्जा के बीच से व्यक्तित्व की परिपूर्णता स्वायत्त करने को चेष्टा अज्ञेय के उपन्यासों की मूल वस्तु है।'' चतुर्वेदी जी आगे कहते हैं- ''शेखर के व्यक्तित्व मे पीड़ा और प्रेम का मुख्य सर्जक चरित्र है शशि।''

रमेशचन्द्र शाह ने अपने एक लेख में लिखा है :-

''शेखर : एक जीवनी' में एक व्यक्तित्व के बनने की अनिवार्य प्रक्रिया पहली बार उद्घाटित हुई।''[19] व्यक्तित्व की विशिष्टता की निर्मिति ही शेखर की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। 'शेखर : एक जीवनी' में जगह-जगह ऐसे सूत्र और संकेत हैं, जिनके माध्यम से हम मनुष्य की चेतना के नये-नये स्तरों की पहचान कर

सकते हैं। एक स्थान पर शेखर कहता है : ''सौन्दर्य कितना नग्न और नग्नता कितनी सुन्दर है।'' यह दृष्टि किसी सामान्य मध्यम संवेदना वाले व्यक्ति की नहीं हो सकती। गहरी, आत्यन्तिक और मौलिक संवेदना वाला व्यक्ति ही ऐसा कह सकता है। इसी अर्थ में शेखर विद्रोही है। अपने ही जीवन पर विचार करते हुए शेखर कहता है : ''ज्यों-ज्यों अपने जीवन की कहानी सोचता हूँ उसकी एक-एक बातों को नाप-तोल कर, उसकी विवेचना, एक विद्रोही के जीवन में उसके महत्त्व पर विचार करता हूँ, त्यों-त्यों उसके प्रति मेरा आदर भाव बढ़ता जाता है। इस जीवन में भी कुछ है, एक उत्ताप, एक ऊर्ध्वगामी दीप्ति, जो यदि विद्रोह की शक्ति नहीं तो विद्रोही शक्ति की उपासना-सामर्थ्य अवश्य है।''[20]

मनुष्य के चरित्र में जितने ऊर्ध्वगामी घटक हो सकते हैं, उन सभी का समावेश 'शेखर : एक जीवनी' में हुआ है। एक श्रेष्ठ, संकल्पवान, और संस्कारी व्यक्तित्व की निर्मिति की गहरी प्रेरणा 'शेखर : एक जीवनी' में निहित है। उपन्यास के अन्तिम चरण में शेखर कहता है : ''इतिहास मेरे लिए कुछ नहीं है, घटनाओं का अनुक्रम भी कुछ नहीं है। जीवन का अन्तिम मान है जीव-हमारे जीवन का मान है यह अद्‌भुत सृष्टि, मानव-प्राणी और प्राणी की प्राणवत्ता का मान है उसका प्यार, उसकी अपने आप से बाहर प्रसारित होने की, निछावर होने की शक्ति। कथा का महत्त्व मेरे लिए नहीं है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसी का महत्त्व है।''[21]

नदी के द्वीप :
प्रणय की संस्कृति

अज्ञेय का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' 1951 में प्रकाशित हुआ, 'शेखर : एक जीवनी' (दूसरा भाग 1944) के सात वर्षों पश्चात्। 1951 तक अज्ञेय स्वयं 40 वर्ष के हो चुके थे। यह उपन्यास घटनाओं की बहुलता का उपन्यास नहीं है। इसमें अधिक पात्र भी नहीं हैं। मुख्य रूप से तीन ही पात्र हैं-रेखा, गौरा और भुवन। गौण रूप से तीन पात्र और आते हैं चन्द्र माधव, रेखा का पूर्व पति हेमेन्द्र और बाद के पति। ये तीनों पात्र आनुषंगिक हैं। कथा भुवन, रेखा और गौरा की है। परन्तु जैसा कहा घटनाएँ नगण्य हैं। संवेदना, 'नदी के द्वीप' निविड़ संवेदना का उपन्यास है। यह व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। अन्तर्मन्थन का उपन्यास है। चरित्रों की आन्तरिक बनावट का उपन्यास है। मन्थन के पश्चात् मानस से निकले अमृत-तत्त्व का उपन्यास है। चारित्रिक उदात्तता का उपन्यास है। प्रणय की सर्वोपरिता का उपन्यास है। यह उपन्यास प्रेम की स्वायत्ता की व्यंजना का अद्‌भुत दस्तावेज है। सौन्दर्य की अद्‌भुत छवियाँ इस उपन्यास में हैं, मन के भीतर का सौन्दर्य और बाहर की प्रकृति का सौन्दर्य।

'नदी के द्वीप' को लेकर अज्ञेय ने लिखा है :-

''नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है, इससे इतर वह और कुछ क्यों नहीं है, इस का मैं क्या उत्तर दूँ? दूँ तो वह मान्य ही होगा ऐसा कोई आश्वासन तो नहीं है। व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुँज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी;

इसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओं का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है- 'जैविक' सामाजिक के विरोध में नहीं, उससे अधिक पुराने और व्यापक और लम्बे संस्कारों को ध्यान में रखते हुए फिर इस दाय पर अपनी छाप भी बैठाता है, क्योंकि जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है।''

('नदी के द्वीप क्यों और किसके लिए, आत्मने पद, पृष्ठ-74)

'नदी के द्वीप' में आये व्यक्ति चरित्र ऐसे ही हैं। वे अपनी सामाजिक सच्चाइयों का जितना प्रतिबिम्बन करते हैं, उससे अधिक वे एक नये, उदात्त और उत्कृष्ट मनुष्य की रचना की सम्भावना का प्रतिफलन करते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' से 'नदी के द्वीप' का अन्तर अज्ञेय के शब्दों में इस प्रकार है, 'शेखर' में व्यक्तित्व का क्रमशः विकास होता है, 'नदी के द्वीप' में व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते है।''[22] अज्ञेय के शब्दों में 'नदी के द्वीप' एक दर्द भरी कहानी है : ''उपन्यास के प्रारम्भ में सूत्र रूप से जो उद्धरण दिये गये हैं- एक शैली का, एक स्वयं लेखक की कविता से, वे अर्थ रखते है : दर्द में भी जीवन में आस्था, जीवन का आश्वासन जो शैली के सन्दर्भ से ध्वनित होता है : और दर्द से मंजकर व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास, ऐसा स्वतंत्र कि दूसरों को भी स्वतंत्र करे-जो 'अज्ञेय' के सन्दर्भ से ध्वनित होता है। आदर्श के ये दो सूत्र कथा में हैं, चरित नायक भुवन एक को ध्वनित करता है तो मुख्य स्त्री पात्र रेखा दूसरे को।''[23]

यह दर्द क्या है? प्रणय को अपने जीवन की गहराइयों में उतारने की प्रक्रिया में अपने को होम कर देने का दर्द है। थोड़ा कथा में प्रवेश किया जाये। 'नदी के द्वीप' मूलतः एक प्रणय-कथा है। 'शेखर' में जहाँ बहुत कुछ और भी था। फिर भी 'शेखर : एक जीवनी' का भी प्राण तत्त्व उसकी प्रेम की ही संवेदना में निहित है। भुवन और रेखा दोनों विकसित, समुन्नत और स्वाधीन व्यक्ति हैं। दोनों का बौद्धिक धरातल भी पर्याप्त ऊँचा है। दोनों लम्बी-लम्बी बौद्धिक बहसें भी करते हैं, परन्तु दोनों के बीच प्रणय की एक डोर आस्तित्व में आ चुकी है। रेखा एक शिक्षिका है, भुवन वैज्ञानिक। मिलना कभी-कभी ही होता है, परन्तु डोरी कसती जा रही है। और फिर दोनों का पहाड़ी यात्रा का कार्यक्रम बन जाता है। वे नौकुछिया जाते हैं। तुलियन जाते हैं। दोनों के नासा-पुटों में प्रणय की गन्ध भरती

चली जाती है। दोनों के हृदय प्रणय की गहरी संवेदना से लबरेज होते चले जाते हैं। और फिर घटित होती है प्रणय की सिद्धि। शरीर और मन के सारे भेद, इनके बीच की सारी दीवारें ढह जाती हैं। दोनों तदाकार हो उठते हैं। एक 'आप्लवनप कारी लहर' उन्हें बहा ले जाती है। सूर्य, आकाश, पवन, तले बिछी घास, चट्टाने, अन्तरिक्ष के अगणित देवता और अकिंचन वनस्पतियाँ उनके इस चरम मिलन के साक्षी होते हैं। इस सघनतम अनुभूति के लहरिल प्रवाह में से गुज़रने के पश्चात् रेखा को लगता है उसे उसके जीवन की सिद्धि मिल गई। वह अपने को 'फुलफिल्ड' महसूस करती है। उसे लगता है इस चरम अनुभव की स्मृति में ही वह अपना शेष जीवन बिता लेगी। प्रणय की इतनी गहरी अनुभूति विरल ही होती है।

परन्तु 'नदी के द्वीप' की विशिष्टता उस प्रणयानुभूति की सिद्धि तक ही नहीं है। आगे का घटनाक्रम उसे और भी अर्थगर्भ और विशिष्ट बना देता है। रेखा उस सम्मिलन की अर्थवती परिणति की धात्री होती है। वह गर्भवती होती है। वह आह्लाद और चरम उल्लास के साथ इस सत्य का उद्घाटन भुवन से करती है। भुवन भी उतना ही आह्लादित होता है। दोनों के बीच एक प्रीतिकर संवाद होता है। दोनों एक-दूसरे से पूछते हैं : वे जीवन में क्या बनना चाहते थे। एक कहता है 'सर्जन' दूसरा कहता है 'बीनकार'। रेखा कहती है-हम उस अनागत को 'बीनकार सर्जन' बनायेंगे, आह्लाद के चरमोत्कर्ष की यह भाव-दशा अधिक समय तक नहीं टिक पाती। विषम घटनाचक्र बीच में आते हैं, और सब कुछ उलटने-पुलटने लगता है। परन्तु उन विषम स्थितियों में 'नदी के द्वीप' का प्रत्येक चरित्र अपनी ऊर्ध्वगामिता का ज्वलन्त परिचय देता है। सबसे पहले जो विषमता आती है, उसकी तो भुवन पहचान ही नहीं कर पाता।

असल में भुवन दो डोरों से बँधा है। एक ध्रुव है गौरा, दूसरा ध्रुव है रेखा। इन दो ध्रुवान्तों के बीच में स्थित है-भुवन। परन्तु पारम्परिक अर्थ में यह त्रिकोणात्मक प्रेम-कथा नहीं है। यह एक सर्वथा भिन्न प्रकार की त्रिकोणात्मकता है। गौरा भुवन की शिष्या है, अनुगता है और आयु में भुवन से काफी छोटी है। भुवन उसे स्नेह से भिंगोता रहता है। एक वत्सल स्नेह भाव ही उसके मन में गौरा की प्रति बना हुआ है। गौरा भुवन पर श्रद्धा रखती है, परन्तु राग का भाव भी

उसके मन में भुवन के प्रति गहराता जाता है। एक ऐसा राग जिसमें अधिकार की कोई कांक्षा नहीं, केवल समर्पण और आत्मदान का ही भाव है। प्रारम्भ में तो भुवन गौरा की रागानुभूति को पहचान भी नहीं पाता।

असल में भुवन दो डोरों से बँधा है। एक ध्रुव है गौरा, दूसरा ध्रुव है रेखा। इन दो ध्रुवान्तों के बीच में स्थित है-भुवन। परन्तु पारम्परिक अर्थ में यह त्रिकोणात्मक प्रेम-कथा नहीं है। यह एक सर्वथा भिन्न प्रकार की त्रिकोणात्मकता है। गौरा भुवन की शिष्या है, अनुगत है और आयु में भुवन से काफी छोटी है। भुवन उसे स्नेह से भिंगोता रहता है। एक वत्सल स्नेह भाव ही उसके मन में गौरा के प्रति बना हुआ है। गौरा भुवन पर श्रद्धा रखती है, परन्तु राग का भाव भी उसके मन में भुवन के प्रति गहराता जाता है। एक ऐसा राग जिसमें अधिकार की कोई कांक्षा नहीं, केवल समर्पण और आत्मदान का ही भाव है। प्रारम्भ में तो भुवन गौरा की रागानुभूति को पहचान भी नहीं पाता। क्योंकि उसका राग तो रेखा के प्रति पूरी उच्छलता से आकार ग्रहण कर रहा है। न केवल यह कि भुवन गौरा की रागानुभूति से अपरिचित है, बल्कि उसे एक निश्छल स्नेह पात्री मानते हुए वह गौरा को रेखा के प्रति अपने प्यार की एक-एक बात बतलाता भी है। गौरा का प्रभाव भुवन के अवचेतन मन पर अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। भुवन रेखा से अपनी चरम सन्निधि के बावजूद और रेखा के गर्भाधान की आह्लादकारी सूचना के बाद भी जैसे थोड़ी दूर पर खड़ा है। रेखा इस दूरी से, इस अन्तराल से आहत होती है। जब भुवन एक अन्तराल के पश्चात् रेखा से मिलता है और विवाह का प्रस्ताव करता है तो रेखा मना कर देती है। यह प्रसंग उपन्यास का एक शीर्षस्थ महत्त्व का प्रसंग है। बार-बार भुवन के प्रस्ताव करने पर और रेखा के अस्वीकार करने पर भुवन कहता है : ''रेखा, और भी बातें सोचने की हैं।-'तो रेखा कहती है : 'है' न? इसीलिए यह बात सोचने की नहीं रही-यह तभी सोची जा सकती है जब एक अद्वितीय हो, दूसरी किसी बात से असम्बद्ध हो।''[24]

प्रणयानुभूति की यह सर्वोपरिता हिन्दी उपन्यास में अद्वितीय है। एक नारी जिसके गर्भ में शिशु पल रहा है और वह गर्भस्थ शिशु एक गहन और प्रणयकाल सम्मिलन का परिणाम है, अपने प्रेमी से विवाह के प्रस्ताव को केवल इस तर्क के आधार पर अस्वीकृत कर देती है कि यह प्रस्ताव अन्य बातों से जुड़कर आया

है। यह एकमेव और सर्वथा स्वतंत्र प्रस्ताव नहीं है। जहाँ भारतीय उपन्यासों में नारी की असहाय स्थिति का उल्लेख यत्र-तत्र बिखरा मिलेगा, पुरूष द्वारा परित्यक्त स्त्रियों की लम्बी श्रृंखला मिलेगी, वहीं एक ऐसी नारी जो अपने प्रेमी के ईमानदारी से रखे गये विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार करने में ज़रा भी संकोच नहीं करती। यह नहीं कि भुवन के प्रस्ताव में कहीं खोट है, अथवा भुवन की रेखा के प्रति प्रणयनिष्ठा में कहीं न्यूनता है। मात्र प्रेम के आधार पर यह क्यों नहीं आया। नारी का इतना ऊर्ज्जस्वित रूप हिन्दी कथा साहित्य में अनूठा है। जहाँ शेखर की शशि अपनी आत्म बलिदानी संवेदना को लेकर पाठक को अभिभूत करती है, 'नदी के द्वीप' की रेखा अपनी बौद्धिक प्रणयानुभूति के कारण पाठक को अभिभूत करती है। बौद्धिक निस्संगता और गहन प्रणयाकुलता का यह अद्‌भुत संश्लेष 'नदी के द्वीप' की एक सर्वथा विशिष्टि उपलब्धि है। इसे ही हम गैर रोमाण्टिक प्रेम कह सकते हैं। आगे का कथा-विकास और भी चमत्कृत करता है। विषमता और भी गहराती जाती है।

रेखा का पति हेमेन्द्र जो लगभग उससे पूर्णतः अलग था और विदेश चला गया था वापस स्वदेश लौटता है। उसे रेखा के प्रति न कोई लगाव था न सहानुभूति। उल्टे वह जब तक रेखा के साथ था, लगातार उसे प्रताड़ित ही करता था। लौटने पर जब उसे इस बात का आभास हुआ कि रेखा का प्रणय किसी अन्य व्यक्ति से चल रहा है, वह प्रतिशोध पर आमादा हो गया। उसने रेखा के पति होने का अधिकार और दावा प्रस्तुत करना शुरू किया। रेखा के गर्भ में भुवन का भ्रूण था। रेखा अपने जीवन के सबसे गहरे संकट में आ गई। उसने वह निर्णय लिया जा उसके जीवन का सबसे भयानक, सबसे कठोरतम निर्णय था। उसने गर्भपात का निर्णय लिया।

'नदी के द्वीप' का सबसे अप्रिय प्रसंग। अधिकांश आलोचकों ने इस प्रसंग की तीखी आलोचना की है। रेखा के निर्णय को उसके व्यक्तित्व और चरित्र की सबसे अवांछनीय घटना माना है। यह सचमुच एक त्रासद निर्णय था। परन्तु रेखा क्या सोचती है, इसकी पहचान पाठक के लिए ज़रूरी है। रेखा हेमेन्द्र द्वारा दी गई आतंक भरी धमकी को भुवन की कीर्ति पर एक करारी चोट मानती है। वह कहीं से भी इस बात के लिए उद्यत नहीं है कि इस चरम प्रणय की कोई उत्पतकारी

आँच भुवन के व्यक्तित्व के रेशों को जलाने लगे। रेखा ने भुवन से अपने प्रणय को अपने जीवन का सबसे बड़ा उत्कर्ष माना है। इस प्रणय ने उसे 'फुलफिल्ड' किया है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह टिप्पणी सचमुच इस सम्बन्ध पर एक सार्थक टिप्पणी है : ''रेखा और भुवन के सम्बन्धों में व्यक्तित्व के 'फुलफिलमेंट' की चर्चा कई बार आती है। भुवन, जिसके माध्यम से रेखा ने सर्वांगीण प्रेम का अनुभव जाना है, मन और शरीर दोनों ही के स्तर पर, अनुभव करता है कि रेखा को उसने कुछ दिया है जो श्रेष्ठ है, वरणीय है, और इस देने में न केवल रेखा धन्य है वरन् वह स्वयं भी। नदी के ऊपर बैठी रेखा गा रही है। और भुवन सोचता है, 'क्या वह भी रेखा की तरह कह सकता है कि अब वह 'फुलफिल्ड' है कि अब वह मर सकता है? पर 'फुलफिल्ड' होना क्या है? एक तन्मयता उसने जानी है, एक अभूतपूर्व तन्मयता; लेकिन स्वयं वह जो जाना है उससे कुछ अधिक और कुछ अधिक गहरी रेखा उसके निमित्त से जान सकी है तो क्या यही 'फुलफिलमेंट' नहीं है कि कोई किसी को वह चरम अनुभूति दे सके-देने का निमित्त बन सके-जो जीवन की निरर्थकता को सहसा सार्थक बना देती है?''[25]

इस चरम अनुभूति पर कोई आँच रेखा नहीं सहन कर सकती थी। हेमेन्द्र ने वही करने की कोशिश की थी। रेखा ने अपने सबसे बड़े कोष को इस अनुभूति की रक्षा के लिए लुटा दिया। उसका गर्भपात का निर्णय सचमुच उपन्यास का सबसे त्रासद, सबसे चोट पहुँचाने वाला प्रसंग है। परन्तु आधुनिक बौद्धिक और स्वतंत्र नारी व्यक्तित्व का एक निर्मम आत्मनिर्णय भी है।

यों रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन भी सर्वथा ठीक है कि 'नदी के द्वीप' की प्रणय संवेदना भिन्न और प्रायः असाधारण है। पर अपनी असाधारणता में भी वह विश्वासनीय है, यह लेखक की कलात्मक सफलता का द्योतक है। यह असाधारणता दो स्तरों पर है। एक तो जो मुख्य चरित्र इसमें हैं - भुवन, रेखा, गौरा-वे समाज के एक विशिष्ट वर्ग से लिए गये हैं। दूसरे यह कि उनके बीच का प्रणय-सम्बन्ध न तो सामान्य ईर्ष्या-द्वेष से परिचालित होता है और न उनमें आत्मत्याग और आत्मपीड़न का परम्परागत रूप मिलता है। 'नदी के द्वीप' में प्रेम का रोमांस बिल्कुल भिन्न प्रकार का है, जहाँ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला है और राग में भी खास तरह का संयम है। पर साथ ही साथ शरीर के

उत्सव-भाव को उन्मुक्त रूप से स्वीकार किया गया है। इस तरह भावुकता, बौद्धिकता और देह का आकर्षण सब मिलकर 'नदी के द्वीप' की प्रणय संवेदना को एक विशिष्ट, पर उदार रूप देते है।"[26]

'नदी के द्वीप' का आगे का कथा-विकास कई अर्थों में अत्यन्त संस्पर्शी और उदात्त है। गर्भपात की सुचना भुवन को आत्यन्तिक रूप से अवसन्न कर देती है। रेखा की कोई सफ़ाई, कोई तर्क भुवन के अन्तर्मन को आश्वस्ति नहीं दे पाते। इस बीच रेखा ने गौरा के समर्पणशील व्यक्तित्व से परिचय प्राप्त कर लिया है। भुवन के प्रति गौरा के निर्व्याज एवं निष्काम समर्पण भाव से वह गहराई से प्रभावित होती है। उसे लगता है कि गौरा भुवन को अपना कर एक आश्वस्तिकर छाँह दे सकती है। एक मूक समझौता वह गौरा से कर लेती है। उसे लगता है गौरा का चरित्र भिन्न प्रकार का है। उसमें इतना सब है, इतनी सहनशीलता है, इतनी प्रतीक्षमानता है, जो उसे एक अत्यन्त उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। रेखा में आवेश अधिक है। गौरा एक शुभ्र, शीतल, प्रतीक्षमान प्रेयसी है। परन्तु रेखा में उदारता, विशालता और ईर्ष्याहीनता है। दोनों जब एक-दूसरे से मिलती हैं, तो दोनों ही परस्पर गहराई से प्रभावित होती हैं। दोनों का सरोकार भुवन है। भुवन को बचाना, भुवन के व्यक्तित्व को सार्थक परिणति तक ले जाना दोनों का चरम लक्ष्य है। बिना कोई विचारणा किये, बिना संवाद किये, दोनों इसी लक्ष्य की ओर बढ़ने लगती हैं। रेखा ने भुवन को, भुवन के लिए, गौरा की छाँह में अर्पित कर दिया। यह सब कुछ भुवन के अनजाने हो रहा था। सबसे केन्द्रीय घटना थी रेखा द्वारा अपनी माँ से प्राप्त कटहला वाली अंगूठी गौरा की अंगुली में पहनाया जाना। दोनों ने दानों की नियति को पूरी अर्थवत्त के साथ बिना बोले स्वीकार कर लिया।

''रेखा और गौरा कई अर्थों में अतिमानवीय लगती हैं। रेखा ने जिस प्रकार अपने निजी सुख को, अपने नारीत्व को, अपने आह्लाद एवं चरम अनुभूति को गौरा के लिए विसर्जित कर दिया है, वैसा जीवन में होता नहीं। उसी प्रकार जिस अनन्त धैर्य एवं विश्वास के साथ गौरा भुवन की प्रतीक्षा करती है, उसकी तटस्थता, उसका पलायन, उसकी निरपेक्षता बिना शिकायत, सहज रूप से अंगीकार करते हुए, उसकी वापसी पर पूरी आस्था और भरोसा रखती है, वह भी असाधारण ही है, किन्तु रेखा और गौरा की ये असाधारणताएँ, इतनी

श्लाघनीय हैं, स्पृहणीय हैं, कि मन इनकी विश्वसनीयता के प्रति खुला रहता है। लगता है ऐसी रेखाएँ, ऐसी गौराएँ हमारे समाज में एकाध भी हों तो हम परम धन्य हो जाएँ। इतना ही नहीं 'अज्ञेय' के प्रति इस व्यक्तित्व-सर्जना के लिए मन कृतज्ञता से भर आता है।"[27]

'नदी के द्वीप' वास्तव में सुसंस्कृत, उदात्त एवं श्रेष्ठ व्यक्तित्वों से बुनी हुई कथा है। अज्ञेय का यह निरन्तर आग्रह रहा है कि साहित्य यदि यथार्थ का प्रतिबिम्बन करता है तो उस यथार्थ को बदलने का माध्यम भी है। साहित्य यदि अनुभूति-प्रवण हो और किन्हीं बड़े मानवीय आदर्शो को अपने में धारण करते हुए भी विश्वसनीय बना रह सके तो निश्यय् ही वह पाठक को संस्कारित करता है। 'नदी के द्वीप' का प्रत्येक प्रमुख चरित्र एक उदात्त चरित्र है। मानवीय आचरण की एक श्रेष्ठ अभिव्यक्ति। परन्तु कहीं से भी ये चरित्र उद्‌बोधन-मूलक, आह्‌वान मूलक नहीं हैं। ये अनुभूति के रसायन के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसी कारण ये हमें स्पर्श करते हैं। उन्नीत करते हैं। चाहे भुवन का बौद्धिक, निस्संग और दूसरी ओर प्रणयाकुल व्यक्तित्व हो या रेखा का उतना ही बौद्धिक, उतना ही प्रणयानुभूति में अभिसिंचित चरित्र हो अथवा गौरा का शान्त, समपर्णशील और धीर-गम्भीर चरित्र हो, सभी हमें गहराई से छूते हैं, एक उदात्त भाव से सम्पूरित करते हैं। बार-बार हमें यह एहसास देने हैं कि काश ऐसे लोग हमें जीवन में जगह-जगह मिलते। यहाँ तक कि खलनायक की भूमिका में चित्रित चन्द्रमाधव भी संयम की परिधि को कहीं तोड़ता हुआ नज़र नहीं आता। मानव जीवन की इस सांस्कृतिक शालीनता का आख्यान 'नदी के द्वीप' को मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में निश्चय ही एक विशिष्ट कृति बनाता है। अज्ञेय ने लिखा हैः-

"नदी के द्वीप' के पात्र किसी हद तक अवश्य असाधारण हैं। वैसे ही जैसे भारत में पढ़ा-लिखा व्यक्ति किसी हद तक असाधारण है।... समाज के जिस अंग से 'नदी के द्वीप' के पात्र आये हैं उसका वे ग़लत प्रतिनिधित्व नहीं करते। मेरे लिए उनकी इतनी सामाजिकता पर्याप्त है। इसके आगे उनमे से प्रत्येक चरित्र एक सही सुनिर्मित विश्वास्य व्यक्ति-चरित्र हो और जीवन्त होकर सामने आ सके, यही मेरा उद्‌देश्य रहा और इतना मात्र मैं कलात्मक उद्‌देश्य मानता हूँ।"[28]

अज्ञेय ने जिन व्यक्ति चरित्रों को 'नदी के द्वीप' में निर्मित किया है, उनमें रेखा

के प्रति उनका सर्जक अधिक सजग है। 'नदी के द्वीप' की भूमिका अज्ञेय ने नहीं लिखी है। परन्तु अन्यत्र एक स्थान पर उन्होंने रेखा के विषय में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए लिखा है :-

''रेखा 'नदी के द्वीप' का सबसे अधिक परिपक्व पात्र है।... मेरी दृष्टि में वही उपन्यास का प्रधान पात्र भी है। वही अपनी भावनाओं के प्रति सबसे अधिक ईमानदार है और अपने प्रति सबसे अधिक निर्मम!...

''रेखा का जीवन-ध्येय और जीवन-दर्शन? इस प्रश्न का उत्तर मेरे लिए कठिन है। इतना शायद कहानी से निकाला जा सकता है कि रेखा अपनी भावनाओं के प्रति सच्ची रहना चाहती है, भीतर के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उसने समर्पण की सीमा तक पहुँचा दिया है। जहाँ वह व्यक्ति की बहुत बड़ी शक्ति है, व्यक्तित्व के विकास का एक उत्कर्ष है, वहाँ उसकी एक पराजय भी है। क्योंकि अपने में जो है उसके प्रति समर्पण काफी नहीं है। अपने से बाहर और बड़ा भी कुछ है, जिसके प्रति भी उतना ही निस्संग समर्पण, वास्तव में चरित्र की पूर्ण विकसित और परिपक्व अवस्था है। रेखा की ट्रेजिडी उसके इसी समर्पण के अधूरेपन की ट्रेजिडी है। जितना ही वह पूरा है उतना ही वह अधूरा है, क्योंकि वह अधूरे के प्रति है।''[29] इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञेय अपनी बेधक दृष्टि से उपन्यास के उन छिद्रों को भी देखते हैं, जिन्हें बड़े आलोचक भी नहीं देख पाते।

इसी प्रकार डॉ. भुवन एक सुसंस्कृत, शालीन, चिन्तनशील, अध्ययनशील और अन्तर्मुखी व्यक्ति है। उसे समाज पर, समाज के श्रेष्ठ मूल्यों पर, मनुष्यता पर पूरी आस्था है। वह वैज्ञानिक है, कास्मिक किरणों का अनुसन्धाता, परन्तु वह लॉरेन्स, रोज़ेटी, कीट्स और रवीन्द्र नाथ की कविताओं की संवेदना से भीग सकता है। संगीत और गान में उसे गहरी रूचि है। माननीय संवेदनाओं से वह पूर्णतया जुड़ सकने वाला है। भुवन का चरित्र रेखा की पीड़ा और गौरा की अकूत सहन शक्ति से अपनी परिपूर्णता तक पहुँचता है। उसे रेखा और गौरा दोनों का श्रेष्ठतम प्राप्त होता है।

'नदी के द्वीप' अनुभूति की आँच में तप कर मानव-चेतना के उन्नयन की कथा है। एक ऐसी रचना है जो किसी बड़े-से-बड़े फलक पर चित्रित बड़ी

सामाजिक उथल-पुथल या ऐतिहासिक क्रान्ति की तुलना में अधिक गहरी अन्विति का आधार बन सकती है। चेतना के स्तरों में जो ऊर्ध्व-विकास मानव की कल्पना में झिलमिलाता है, उसे हम न तो मंत्रों के उच्चारण से और न बड़े-बड़े उद्‌बोधनों या आह्‌वानों से अपने चरित्र या व्यक्तित्व का अंग बना सकते हैं। बड़ी-बड़ी दार्शनिक उपपत्तियाँ भी कोई ठोस परिणाम मानवीय चरित्र के धरातल पर नहीं दे पातीं। उन्हें तो हम आत्म-साक्षात्कार की गहरी अनुभूति से ही स्वायत्त कर सकते हैं। 'नदी के द्वीप' वैसे आत्म-साक्षात्कार के लिए हमें बहुत गहरे स्तरों पर तत्पर बनता है। पीड़ा से मुक्ति की कथा इसमें अनुभूति के जिन तन्तुओं से बुनी हुई है, वह बरबस पाठक को अपने आप्लवनकारी प्रभाव में आविष्ट कर लेती है। वह केवल रेखा और गौरा के मध्य विकसित भुवन के आत्मपरिष्कार की कथा नहीं है। रेखा की पीड़ा से गौरा की मुक्ति और गौरा की उदात्त सहिष्णुता से निष्पन्न रेखा की विशालता की भी कथा नहीं है। वह है एक ऐसी अनुभूति की भट्‌ठी जिसकी आँच में पक कर प्रत्येक पाठक की कठोर चेतना की परतें अधिक कोमल, अधिक तन्य और अधिक अर्थवती हो जाती हैं।

उपन्यास में ऐसे-ऐसे प्रसंग हैं जिनके बीच से गुज़रते हुए हम कितना उदास, कितना भाव प्रवण हो उठते हैं। एक स्थान पर रेखा भुवन को लिखती हैं :-

''तुमने मुझे उदास दुःखी, प्रतिमुखी, अवरूद्ध ही जाना है, सहा है, मेरे भुवन, बड़ी करूणा और स्नेह के साथ सहा है-पर मैं वैसा नहीं हूँ। मैं हँसती थी। पथ-तट के एक उपेक्षित फूल को देखकर मैं विभोर हो सकती थी और नदी की हवा के साथ मेरा मन उड़ जाता था, हँसते सुनहरे पंख फैलाकर, अन्तरिक्ष को मेरी हँसी से गुँजाता हुआ।''[30] अनुभूति से भीगी ऐसी अभिव्यक्तियाँ उपन्यास के अन्तराल खण्डों में यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं।

अपने-अपने अजनबी : मृत्यु के अनुभव से जीवन का साक्षात्कार

'अपने-अपने अजनबी', 'नदी के द्वीप' के लगभग एक दशक बाद की रचना है। इस उपन्यास का सारा विन्यास, चाहे संरचना के स्तर पर हो या संवेदना और अनुभूति के स्तर पर एक दम नया है। इसकी पृष्ठभूमि, इसकी रचना प्रक्रिया, इसकी रचना-दृष्टि, इसकी अन्तरानुभूति सब कुछ अज्ञेय के पहले दोनों उपन्यासों से भिन्न है। इसकी अन्विति भी भिन्न है। एक स्थान पर अज्ञेय ने लिखा है : ''रचना के लिए दो चीज़ें चाहिए; एक तो कलात्मक अनुभूति या संवेदना, दूसरा उसके प्रति वह तटस्थ भाव जो उसे सम्प्रेष्य बना सके।''[31] इस कसौटी पर तो 'अपने-अपने अजनबी' एक खरी रचना मानी जा सकती है, क्योंकि ये दोनों तत्त्व इस रचना में विद्यमान हैं। परन्तु हिन्दी आलोचना ने इस उपन्यास को लगभग अस्वीकार-सा दिया। उन्हें लगा कि कहाँ 'शेखर : एक जीवनी' की आविष्ट गत्यात्मक अनुभूतिमयता, अथवा 'नदी के द्वीप' की प्राँजल और घनीभूत प्रणयाकुलता और कहाँ 'अपने-अपने अजनबी' का ठण्डा और ऊब भरा मृत्यु-चिन्तन। यह भी कहा गया कि इस उपन्यास की पूरी अन्तर्वस्तु विदेशी अनुभवों पर आधारित है। क्योंकि सेल्मा और योके विदेशी नाम हैं, परन्तु जैसे-जैसे समय बीता और लोगों ने उपन्यास को गहराई से पढ़ना शुरू किया और उसके कथाशिल्प की तहों को चीर कर भीतर की आत्मा को पहचानने का प्रयास किया, लोगों को लगा कि

यह विदेशी लिबास में शुद्ध भारतीय संवेदना का उपन्यास है। इसमें मृत्यु की पृष्ठभूमि में जीवन के गहरे अर्थों का सन्धान किया गया है। इसमें रागात्मकता की ऐसी विशिष्ट अनुभूतियाँ हैं, जिनकी अद्वितीयता रेखांकित करने करने योग्य है।

हिन्दी आलोचकों में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अवश्य 'अपने-अपने अजनबी' की श्रेष्ठता को अनेक कोणों से देखा और रेखांकित किया। उनहोंने लिखा है : ''विषय और वस्तु दोनों दृष्टियों से 'अपने-अपने अजनबी' मृत्यु से साक्षात्कार का आख्यान है। रचनाकर की दृष्टि में मृत्यु जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि जीवन को रसमयता और अर्थवत्ता वही देती है।-'साँस की बाधा ही जीवन-बोध हैं, क्योंकि उसी से हमारा चित्त पहचानता है कि कितनी व्यग्र ललक से हम जीवन को चिपट रहे हैं। पर हमें इस अन्तर को समझना होगा कि मृत्यु को प्रेम और अर्थवत्ता का प्रेरक तत्त्व मानना एक बात है और मृत्यु की चिन्ता में डूबना दूसरी। मृत्यु के होने में जीवन की सार्थकता है, यों मृत्यु के प्रति तीव्र सजगता जीवन की सार्थकता को कम भी कर सकती है। पर 'अपने-अपने अजनबी' मृत्यु की सर्जनात्मकता के लिए चुनौती और प्रेरक शक्ति के ही रूप में मान कर चलता है।''[32]

उपन्यास में सेल्मा इस साक्षात्कार की केन्द्रीय पात्र है। वह एक स्थान पर कहती है : ''शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते, जब तक मृत्यु में ही उसे न पहचान लें इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एक मात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है।''[33] सेल्मा और योके की दृष्टियों में मौलिक अन्तर है। योके एक स्थान पर अपनी डायरी में लिखती है : ''और ठीक यहीं पर फर्क है। वह जानती है और जानकर मरती हुई भी जीये जार रही है। और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ।'' असल में सेल्मा में जो जीवन के प्रति इतना गहरा विश्वास है, वह भी उसने मृत्यु के साक्षात्कार से ही प्राप्त किया है। सेल्मा ने अपने यौवन के पूरे उभार के बीच मानवीय राग को अपने क्रूर और अमानवीय व्यवहार के बीच पाया और पहचाना था।

उसके जीवन में मृत्यु की छाया दो बार मँडराती है। एक बार युवाकाल में जब वह बाढ़ में बहे हुए पुल के एक खण्डित अंश पर एक युवक यान के साथ बच गई थी। किन्तु आगे बचे रहने की कोई सम्भावना नहीं थी। और तब भी उसने

यान से अपने खाद्य पदार्थ की असाधारा कीमत वसूली थी और जब यान अपनी कुल पूँजी उसके मुँह पर मारकर चन्द माँस के टुकड़े खरीदता है और उसे किसी प्रकार पकाता है तो महिला (सेल्मा) से आग्रह करता है कि वह उसके साथ भोजन करे। सेल्मा कहती है कि उसने बहुत महंगे दामों में जो खाद्य सामग्री ख़रीदी है, उसे वह अकेले खाये। परन्तु यान सेल्मा को चकित कर देता है। आगे का प्रसंग उपन्यास में इस तरह है। यान कहता है : ''यही देने मैं आया था-यह गोश्त मैंने पकाया है। सेल्मा ने अचकचा कर कहा, 'तो मुझे क्या जाओ, खाओ, फिर मानो थोड़ा पसीज कर उसने जोड़ा 'तुमने काफी दाम देकर ख़रीदा है।'

'इसीलिए साझा करने आया हूँ। अपनी अन्तिम पूँजी देकर यह अन्तिम भोजन मैंने ख़रीदा है। इसे अकेला नहीं खा सकूँगा।'

यान थोड़ी देर चुप रहा। 'और इसे पकाना भी कुछ आसान नहीं था-फोटोग्राफ़र की जली हुई दुकान की आँच पर ही यह पका है। इसे ज़रूर ही बहुत स्वादु होना चाहिए-मेरे जीवन के मोल यह ख़रीदा गया और फोटोग्राफर के जीवन के मोल पक सका। लो-कहते-कहते उसने हाथ का दस्तेदार टीन सेल्मा के सामने चौकी पर रख दिया। तब सेल्मा को न जाने क्या हुआ कि वह यान को दुत्कार कर बाहर निकाल देने के लिए आगे बढ़ी तो उसके कन्धे पर हाथ रख कर उसने जब कहा, 'यान, तुम मेरे सामने से चले जाओ।' तब उसके स्वर में दुत्कार ज़रा भी नहीं थी। न जाने क्यों वह खुद स्तम्भित हो गयी। ऐसी स्तम्भित कि उसका हाथ यान के कन्धे पर धरा ही रह गया।

और यान ने कहा, 'नहीं यह अकेले तुम्हीं को नहीं दे रहा हूँ, आधा ही तुम्हें दूँगा-क्योंकि अपमान करने नहीं आया, साझा करने ही आया हूँ। अपना हिस्सा निकाल लो और बाकी मुझे दे दो। मैं उधर जाकर खाऊँगा।

सेल्मा का हाथ धीरे-धीरे यान के कन्धे से फिसलता हुआ गिर गया। यान की ओर देखते-देखते ही उसने दूसरे हाथ से कुर्सी टटोली और एक दम पीछे हट कर उस पर बैठ गयी। 'नहीं, यान, तुम अकेले ही खाओगे। नहीं तो पहले मुझे इसके दाम लौटा देने होंगे।'

धीरे-धीरे एक बहुत सूक्ष्म व्यंग्यपूर्ण मुस्कान यान के चेहरे में झलक गयी। थोड़ा रूक कर उसने कहा, 'ओह्!'

सेल्मा आविष्ट-सी उठ खड़ी हुई। उसे 'ओह' के व्यंग्य के तीखेपन ने एकाएक फिर गहरे विद्रोह भाव से भर दिया और उसी के बल से उसकी क्षण भर पहले की दुर्बलता दूर हो गयी।

लेकिन एकाएक उसने कहा : ''यान तुम मुझ से विवाह करोगे?''[34]

इतना विस्तृत उद्धरण इसलिए कि यह क्रमिक मानसिक घात-प्रतिघात लेखक के शब्दों में ही देखा जा सके। एक ओर एक क्रूर और एक आत्म-केन्द्रित युवती और दूसरी ओर उदार जीवन का अर्थ समझने वाला युवक। और वही युवती इतनी निढाल हो गई, इतनी विसर्जित हो गई कि उसे उस युवक के ही जीवन में अपने जीवन का सारा अर्थ दिखने लगा। अपनी सारी कमाई की वसीयत यान के नाम करके वह काग़ज धीर से यान को दे देती है। चार दिनों तक अपनी कोठरी में बन्द रहती है। और जब यान कोठरी का दरवाजा खट-खटाता है, तभी खोलती है, जैसे उसकी की प्रतीक्षा हो। अन्त में दोनों एक होते हैं। दोनों विवाह करते हैं। एक भरा-पूरा जीवन जीते हैं। सन्तानें होती हैं। सेल्मा जीवन का अर्थ ऐसी चरम अमानवीयता, जो उसके जीवन में ही गहरे धँसी थी- के बीच से प्राप्त करती है।

अज्ञेय ने लिखा है :-

''जीवन सर्वदा ही वह अन्तिम कलेवा है जो जीवन देकर ख़रीदा गया है और जीवन जला कर पकाया गया है और जिसका साझा करना ही होगा क्योंकि वह अकेले गले से उतारा ही नहीं जा सकता, अकेले वह भोगे, भुगता ही नहीं। जीवन छोड़ ही देना होता है कि वह बना रहे और मर-मर कर मिलता रहे; सब आश्वासन छोड़ देने ही होते हैं कि ध्रुवता और निश्चय मिले। और इतर सब जिया और मरा जा चुका है, सब की जड़ में अन्धेरा और डर है; यही एक प्रत्यय है जो नये सिरे से जिया जाता है तब फिर मरा नहीं जाता, जो प्रकाश पर टिका है और जिसमें अकेलापन नहीं-।''[35]

सेल्मा ने जीवन का यही अर्थ मृत्यु की छाया में अर्जित किया था। इसीलिए जब अपनी प्रौढ़ावस्था में दुबारा योके के साथ बर्फ़ की तहों में दब जाती है, जहाँ मृत्यु अपरिहार्य लगती है तो वह पूरे तौर पर शान्त और निरूद्वेलित हो जाती है।

योके समझ नहीं पाती की निश्चित मृत्यु के समक्ष सेल्मा क्यों और किस तरह इतनी प्रशान्त है। सेल्मा का वह अमरत्वबोध दो स्रोतों से निष्पन्न हुआ है। एक तो मृत्यु से साक्षात्कार, दूसरा सर्वथा विषम और विपरीत परिस्थितियों में राग की अनुभूति जो उसे सारी सांसारिक अपेक्षाओं से ऊपर उठा देती है। मुक्त कर देती है।

उपन्यास का दूसरा मूल्य है वरण की स्वतन्त्रता। उसकी निष्पत्ति योके के चरित्र में सम्भव हो सकी है। योके एक अर्थ में आधुनिका है, इसीलिए उसके पास कोई निश्चित मूल्य-दृष्टि नहीं प्रतीत होती है। कोई बड़ी आस्था भी उसके चरित्र में नहीं दिखती। फिर भी वह कुछ बुनियादी मूल्यों से जुड़ी हुई है। इसीलिए जब वह किसी फौजी द्वारा बलात्कार की शिकार होती है तो वह पूरी तौर पर हिल उठती है। शेष जीवन वह अर्द्धविक्षिप्तावस्था में काटती है। वह निर्णय लेती है कि उसे अब आगे नहीं जीना है। किन्तु वह अपराध से सनी हुई हालत में मरना नहीं चाहती है। वह एक अच्छे आदमी के सान्निध्य में मरना चाहती है। अच्छे आदमी की उसके पास कोई वस्तुनिष्ठ कसौटी नहीं है। फिर भी उसे विश्वास है कि वह अच्छा आदमी जब उसके सामने आयेगा तो वह पहचान लेगी। और तभी वह अपने प्राणों का त्याग करेगी।

जिस जगन्नाथन् से साक्षात् होने पर उसने अपने प्राणों का परित्याग किया उसे अच्छा आदमी मानने का उसका सर्वथा मौलिक अन्दाज था। भीड़ में इधर से उधर भागती हुई योके जगन्नाथन् के हाथ के पनीर के टुकड़े में अपने होठों के बीच के अधजले सिगरेट को धँसा देती है और धँसा कर जब वह भागने लगती है तो जगन्नाथन् उसके पीछे दौड़ता है। उसे पकड़ कर वह पूछता है कि उसने ऐसा क्यों किया? योके उसके प्रशान्त और आक्रोश रहित व्यवहार से बहुत प्रभावित होती है। उसके अन्तर्मन में यह सत्य कौंध जाता है कि यह व्यक्ति सच्चे अर्थों में अच्छा व्यक्ति है। और फिर बिना कुछ भी सार्थक परिणति का अपना ध्येय वह अपने ढंग से पूरा करती है। उसने मृत्यु के वरण की स्वतन्त्रता का अपना अधिकार चरितार्थ किया।

जहाँ सेल्मा का मानना है कि हम कुछ भी वरण करने को स्वतन्त्र नहीं हैं, न अपना जीवन न अपनी मृत्यु। यहाँ तक कि अपने-अपने अजनबी का भी वरण

हम नहीं कर सकते। जो भी, जैसा भी, जब भी, हमें दे दिया जाता है बस हम उसकी के अधिकारी हैं। परन्तु योके का दृष्टिकोण भिन्न है। वह अपनी मृत्यु के क्षण में भी एक विशिष्ट प्रकार के आत्म-विश्वास से भरी है। वह मरते हुए भी घोषणा करती जाती है कि जाकर हरामी दुनिया से कह दो कि उसने अपनी मनचाही मृत्यु का वरण किया है। इस प्रकार सेल्मा और योके की जीवन-दृष्टियों में दो ध्रुवान्तों का साक्षात्कार किया जा सकता है। सेल्मा में भारतीय दृष्टि और योके में पाश्चात्य दृष्टि का।

'अपने-अपने अजनबी' का कालचिन्तन पक्ष भी बहुत गहरा है। बर्फ़ की कब्रगाह में दबी हुई सेल्मा और योके के जीवन में थमे हुए समय को अज्ञेय इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :-

"एक धुँधली रोशनी-एक ठिठका हुआ निस्संग जीवन। मानो घड़ी ही जीवन को चलाती है, मानो एक छोटी-सी मशीन ने, जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारे इतना भी वश में नहीं है कि उस यन्त्र को चाबी न दें, घड़ी को रूक जाने दें, ईश्वर का स्थान हड़पने के लिए यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दें, अपने को स्वतंत्र घोषित कर दें। घड़ी के रूक जाने से समय तो नहीं रूक जायेगा और रूक भी जायेगा तो यहाँ पर क्या अन्तर होने वाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहाँ समय जड़ीभूत है। एक ही अन्तहीन लम्बे शिलित क्षण में जी रही हूँ-जीती ही रही हूँ और वह क्षण ज़रा भी नहीं बदलता, टस से मस नहीं होता है।"

(अपने-अपने अजनबी, पृष्ठ-9)

इस एक वाक्य में काल के कितने आयामों को लेखक ने छुआ है। जो इस प्रकार से समय को लेकर सोच रहा है, उसका जीवन थमा हुआ है। वहाँ केवल अन्धकार ही अन्धकार है, सूर्योदय और सूर्यास्त नहीं होता, अनुभव के प्रकार वहाँ नहीं बदलते, केवल उस पात्र या उन दो पात्रों को कुछ पीने-खाने की व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ भी करना नहीं है। समय जड़ हो गया है। फिर भी कुछ बीत रहा है। उस बीतते हुए समय को एक ठहरे हुए शिलित क्षण के रूप में लेखक देखता है तब उसी क्रम में उसकी चेतना में सूर्य कौंधता है। सूर्य जिसके कारण रात और

दिन होते हैं, प्रातः काल-सांयकाल होते हैं। हमारा जीवन जैसे सूर्योन्मुख है। यही क्या पेड़ और पौधे भी सूर्य की ओर बढ़ते हैं। सूर्य जो समय का सबसे बड़ा मापक है। ऐसा सोचते हुए उसके मन में एक प्रश्न कौंधता है :-

''लेकिन मैं जहाँ हूँ, क्या सूर्य वहाँ सचमुच नहीं? मैं मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण में टँगी हुई हूँ-वह क्षण, काल की लड़ी में से टूट कर कहीं छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है-अन्तहीन और अर्थहीन!'' काल-चिन्तन का गहरा साक्षात्कार हमें निम्न कथन में होता है :-

''समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस सन्दर्भ में क्षण वही है, जिसमें अनुभव तो है, लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त।''

(अपने-अपने अजनबी, पृष्ठ-14)

'अपने-अपने अजनबी' में मृत्यु के प्रति दो विराधी दृष्टियों की टकराहट है : पूर्व और पश्चिम की दृष्टि। वे दो दृष्टियाँ ही मिलकर मानव-जीवन के एक नये आयाम का उन्मेष करती हैं। इस प्रकार अज्ञेय की उपन्यास यात्रा सन् 41 से 71 तक की 30 वर्षों के समय की उनकी मूल्यानुभूति की यात्रा है। अनुभूतियाँ जीवनानुभव के साथ विकसित होती हैं, बदलती हैं। 'शेखर' में निविड़ प्रणयानुभूति और गहरी देश भक्ति का अद्‌भुत विन्यास है। व्यक्ति और समाज का अनुभूति के स्तर पर इस प्रकार तादात्म्य अन्यत्र विरल ही मिलता है। वेदना की घनीभूत अनुभूतियाँ हैं। आत्मत्याग के चरम उत्कर्ष के क्षण हैं। क्रान्ति की गहरी अर्थवत्ता है।? भूमिका में अज्ञेय ने लिखा ही है : ''वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है।''

'शेखर' से लेकर 'अपने-अपने अजनबी' तक जीवन में सार्थकता की बुनियादी खोज का एक अनवरत प्रयास अज्ञेय के रचनाकार-व्यकितत्व को समृद्ध करता है।

'नदी के द्वीप' मूलतः व्यक्तित्व की समृद्धि का उपन्यास है। जो व्यक्तित्व की खोज 'शेखर' में प्रारम्भ होती है, 'नदी के द्वीप' में परिणति तक पहुँचती है। 'नदी

के द्वीप' का प्रत्येक चरित्र अत्यन्त समृद्ध व्यक्तित्व का धारक है। आधुनिक जीवन में मानव व्यक्तित्व अधिकाधिक निर्वैयक्तिक होता जा रहा है। इस खतरे से पूर्णतः सचेत अज्ञेय ने पीड़ा और वेदना से व्युत्पन्न व्यक्ति की रचना की है, जो कभी भी निर्वैयक्तिक हो नहीं सकता। 'नदी के द्वीप' की एक बड़ी विशिष्टता है कि प्रेम में ऐसी ईर्ष्या-हीनता क्या सम्भव है? क्या रेखा और गौरा जैसे नारी पात्र जीवन में होते हैं? अज्ञेय ने इस पक्ष पर विचार करते हुए लिखा है, ''रेखा और गौरा में ईर्ष्या न होने की आलोचना हुई है। ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि ईर्ष्या के बिना प्रेम नहीं है या ईर्ष्या के बिना नारी नहीं है। ईर्ष्या भरा, प्रेम, या ईर्ष्या भरी नारियाँ मैंने न देखी हों, ऐसी नहीं है। निस्सन्देह अधिकतर ऐसा ही होता है। लेकिन जीवन का अनुभव अधिसंख्य या अधिमात्र का ही अनुभव नहीं है-जो परिपक्वता की ओर ले जाये वही अनुभव है। मैं मानता हूँ कि ईर्ष्या प्रेम का सबसे बड़ा शत्रु है और प्रेम की स्वस्थ वयस्कता के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा। मैं नहीं मानता कि ईर्ष्या मुक्त प्रेम असम्भव है या अस्वस्थ है या अस्वाभाविक है। बल्कि यह मानता हूँ कि प्रेम में जिनको भी जितना अधिक ईर्ष्या से मुक्त मैंने पाया उनका इतना ही अधिक सम्मान कर सका हूँ- चाहे इस देश-काल में, चाहे दूसरे देश-कालों में''[36]

'अपने-अपने अजनबी' तक पहुँचते-पहुँचते अज्ञेय में चिन्तन पक्ष हावी होने लगता है। वह अनुभूति पक्ष को आक्रान्त करता-सा प्रतीत होता है। मृत्यु से साक्षात्कार और उसके बीच से जीवन की सार्थकता और सिद्धि की खोज, काल की अनुभव-सम्पृक्तता पर गहराई से चिन्तन, और वरण की स्वतन्त्रता को देखने और पहचानने की कोशिश निश्चय ही 'अपने-अपने अजनबी' को एक चिन्तन-मूलक उपन्यास बनाती है।

परन्तु इस चिन्तन की श्रृंखला में अनुभूति और राग के ऐसे सघन पुँज हैं जो पूरी कथा-संरचना को आलोकित करते हैं। सेल्मा और यान का राग प्रकरण ऐसा ही है। योके की मृत्यु के वरण के पूर्व की अच्छे आदमी की तलाश भी एक ऐसी ही प्रकाशित उपत्यका है, जिसमें झाँकने भर से मन की आँखें चौंधिया जाती हैं।

अज्ञेय की उपन्यास यात्रा मानव नियति को मनुष्य से अविच्छिन्न रूप से जोड़ने की यात्रा है।

अज्ञेय की कहानियाँ : मनुष्य में आस्था की खोज

अज्ञेय ने अपने परवर्ती रचना-काल में कहानी लिखना छोड़ दिया। यूँ अपने युवाकाल में उन्होंने बहुत-सी कहानियाँ लिखीं, 'विपथगा', 'कोठरी की बात' 'जयदोल' 'शरणार्थी', 'परम्परा' और 'ये तेरे प्रतिरूप' आदि उनके कहानी संकलन काफी चर्चित हुए थे। उनमें क्रमशः क्रान्तिकारी जीवन, एक फौजी के जीवन तथा भारत विभाजन की पीड़ा जैसे विषयों पर उनकी कहानियाँ संकलित हैं। सन् 1975 में जब उनकी सारी कहानियों का संकलन 'छोड़ा हुआ रास्ता' और 'लौटती पगडंडियाँ', शीर्षक से प्रकाशित होता है तो उसकी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया है कि उन्होंने कहानी लिखना क्यों छोड़ दिया। ''यों तो मैंने यह स्वीकार कर लिया है कि कहानी लिखना मैंने छोड़ दिया-या कि कहानी मुझ से छूट गई है मेरे लिए रचना-कर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है और यही खोज मुझे कहानी से दूर ले गई है, क्योंकि कहानी को मैंने उसके लिए नाक़ाफी पाया।''[37]

इस बात को और स्पष्ट करते हुए अज्ञेय ने उसकी भूमिका में आगे लिखा हैः-

''कहानी की सम्यक् परिभाषा का प्रयत्न न करते हुए मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि कहानी एक क्षण का चित्र प्रस्तुत करती है। 'क्षण' का अर्थ हम चाहे एक छोटा काल-खण्ड लगा लें, चाहे एक अल्पकालिक स्थिति, एक घटना, प्रभावी डायलॉग, एक मनोदशा, एक दृष्टि, एक बाह्य या आभ्यन्तर झाँकी, समझ का एक आकस्मिक उन्मेष, सन्त्रास, तनाव, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया ...। इसी प्रकार 'चित्र' का

अर्थ वर्णन, निरूपण, रेखांकन, सम्पुँजन, सूचन, संकेतन, अभिव्यंजन, रंजन, प्रतीकन, द्योतन, आलोकन, रूपायन, जो चाहे लगा लें या इनके विभिन्न जोड़-मेल।'' तो यह 'क्षण' का चित्र उपस्थित करना अज्ञेय को अधिक समय तक बाँध नहीं सका। उनके मन में यथार्थ को लेकर भी गहरी प्रश्नाकुलता थी। उन दिनों कहानी को यथार्थ से जोड़ने की गहरी चर्चा थी। अज्ञेय यथार्थ के प्रति बहुत अर्थवान दृष्टि रखते थे। उन्होंने लिखा हैः-

''अगर काल की चूल उखड़ी हुई है तो यथार्थ का क्या होता है? यथार्थ की पकड़ हमें कैसे होती है?... क्या घटनाओं के अर्थ होते हैं याकि हम उन्हें देते हैं? अगर हम उन्हें अर्थ देते हैं तो ये 'हम' कौन हैं? कहानीकार, आलोचक या पाठक?

''मैं मानता हूँ कि यथार्थ इकहरा या सपाट या एक स्तरीय नहीं होता।''[38]

इस प्रकार अज्ञेय कहानी विधा से दूर होते जाते हैं। परन्तु जिन कहानियों की उन्होंने रचना की है, उनमें अनेक कालजयी कहानियाँ हैं। मनुष्य की चारित्रिक उदात्ताता की गहरी अन्तर्ध्वनियाँ हैं। अन्धकार में रोशनी की किरणों से दिपदिपाती कहानियाँ। मनुष्य की संकीर्णताओं और क्षुद्रताओं को बेध कर उनमें उदात्तता भरने वाली कहानियाँ हैं।

1931 में लिखी उनकी कहानी 'विपथगा' बहुत चर्चित हुई थी। उस जमाने के प्रतिष्ठित कथाकार प्रेमचन्द और जैनेन्द्र, अज्ञेय की कहानियों के गहरे प्रशंसक थे। क्रान्ति के प्रति निष्ठा क्रान्तिकारियों का सर्वोपरि मूल्य था। कहानी में क्रान्तिकारिणी लड़की को अपनी आस्था प्रमाणित करने के लिए अपने पिता की हत्या तक करने में हिचक नहीं होती। अपने दल के प्रधान को छुड़ाने के लिए अपने सतीत्व को विसर्जित करने में भी वह विचलित नहीं होती। राष्ट्र का इतना पुनीत स्वरूप उसके सामने झिलमिलाता रहता है कि सारी निधियाँ उसके सामने तुच्छ हो जाती हैं।

क्रान्तिकारी जीवन की ही एक कहानी 'क्षमा' पाठक को अपनी मार्मिकता से अभिभूत कर लेती है। अपने साथी से रूपये लेकर क्रान्तिकारी जत्थे तक पहुँचाने के लिए चला युवक रास्ते में ही पड़ने वाले अपने घर में कुछ क्षणों तक रूक कर अपनी वृद्ध माँ और बहिन शशि को देखने का प्रलोभन नहीं छोड़ पाता। घर में

पहुँचते ही देखता है कि माँ सन्निपात से पीड़ित मृत्यु की प्रतीक्षा में है। वह डाक्टर को बुलाता है, परन्तु व्यर्थ। माँ मर जाती है। बहिन शशि उन्माद ग्रस्त हो जाती है। बार-बार अपने क्रान्तिकारी भाई से कहती है, 'तुम जाओ, तुम्हारे काम में हर्ज होगी।' यह वाक्य भाई का हृदय छलनी कर देता है। एक दिन भाई को शाम तक के लिए शशि भेज ही देती है कि जब तक आओगे तब तक मैं ठीक रहूँगी। भाई चला तो जाता है, परन्तु लौटने पर पाता है कि शशि ने ज़हर की शीशी पीकर आत्महत्या कर ली है।

क्रान्तिकारी अड्डे पर पहुँचाये जाने वाले रूपयों में से कुछ तो माँ की दवा पर खर्च हो चुके हैं। शेष रूपयों के साथ जब वह गन्तव्य तक पहुँचता है तो साथी गिरफ्तार हो चुके हैं। वह स्वयं भी पकड़ा जाता है। उसी जेल में दोनों आठ वर्ष साथ रहते हैं। परन्तु दोनों एक दूसरे से बहुत दूर। रूपया प्राप्त करने वाला क्रान्तिकारी दूसरे क्रान्तिकारी को विश्वासघाती समझे बैठा है और दूसरा अपनी माँ और बहिन की मृत्यु का बोझ अपने सीने पर दबाये शान्त, नीरव तथा प्रतीक्षमान अपना एक-एक दिन बिताता है। दोनों की आँखें मिलती हैं, परन्तु उनमें सम्वाद नहीं हो जाता है। आठ वर्ष बाद किसी तरह वह अपने साथी को बतलाता है कि क्यों वह समय से रूपये नहीं पहुँचा पाता तो दूसरा साथी शर्म और ग्लानि से भर उठता है। किसने, किसको क्षमा किया है, पाठक स्वयं अनुभव करें।

अज्ञेय की कहानियों में इस प्रकार की नीरव संवेदना भरी पड़ी है। जेल में ही लिखी अज्ञेय की कहानी 'गृहत्याग' भी उल्लेखनीय कहानी है। 'गृहत्याग' में अनुभूति और चिन्तन दोनों का गहरा सामंजस्य है। कहानी के एक पात्र गंगाधर अपने से पूछता है :-

''हम, जो जन्म के समय से, वंचित, छलित, विवस्त्र, विकृत, विदग्ध थे, पढ़-लिखकर भी यही सीखे कि सम्मत्तिहीन होकर भी हमें शिकायत नहीं करनी चाहिए-क्योंकि जिन अधिकारों से हम वंचित रह गये, वे व्यक्तिगत होने ही नहीं चाहिए, वे समाज में ही अभिहित होने चाहिए। अभी तक बाध्य होकर निर्धन और वंचित थे, अब हमें शिक्षा मिली कि इस दशा में रहना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है।''[39] वही गंगाधर आगे सोचता है। ''पृथ्वी पर मनुष्य का अविर्भाव हुए करोड़ों

वर्ष हो गये, इन करोड़ों वर्षों में बिना किसी बाधा के हमारे हृदयों में व्यक्तिगत स्वत्व का भाव जाग्रत रखा गया है। और उससे भी पूर्व जब हमारे पुरखों ने अभी मनुष्यत्व नहीं प्राप्त किया था, तब भी यह स्वत्व-भाव पशुओं में था-इन असंख्य वर्षों से जो भाव हमारे मन को बाधे हुए हैं, उसे विवेक के एक क्षण में, एक दिन में, एक वर्ष में-एक समूचे जीवन में भी समूल उखाड़ फैंकना हमारे लिए सम्भव नहीं।''[40] इसी कहानी में गंगाधर का यह गहरा आत्मचिन्तन जो जितना गूढ़ है, उतना ही आत्मबेधी और कनकवल्ली का यह उच्छल अनुभूति प्रवण कथनः ''मुझे तुम्हारे खिलौने, और तुम्हारी कहानियाँ और तुम अच्छे लगते हो।''

चिन्तन और सहृदयता का यह संगुँफन कहानी को बेहद प्रभावोत्पादक बना देता है।

अज्ञेय की एक कहानी 'रोज' जो बाद में 'ग्रैंग्रीन' नाम से छपी, जिसने हिन्दी कथा साहित्य में मील के पत्थर का स्थान प्राप्त कर लिया है, अपनी अनुभूति-प्रवणता में बेजोड़ है। 'रोज' में अज्ञेय की सबसे बड़ी शक्ति उनकी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता है। कहानी का प्रारम्भ ही अपनी उदासी की छाया से पाठक को घेर लेता हैः ''दोपहर में उस सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मंडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझिल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था...।'' इस अंश को पढ़कर जो एक प्रभाव पाठक के मन पर छाता है, वह पूरी कहानी में सघनतर होता चला जाता है। कहानी का नायक जेल की बन्द दुनिया से छूट कर बाहर आकर अपनी पूर्व सखी मालती के घर आता है। मालती का विवाह एक डाक्टर से हो चुका है। जो एक दूरस्थ कस्बे में नियुक्त है। मालती वहाँ एक यांत्रिक जीवन व्यतीत करती है। नायक को देख कर क्षणभर के लिए वह स्पन्दित हो उठती है। उसमें संवेदना की एक लहर दौड़ती है, परन्तु फिर वह लहर बैठ जाती है। ''फिर भी मैंने देखा, उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरूज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो... वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को व्यक्ति

एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिर विस्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता। ... मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार फैंकना चाहे, पर उतार न पाये।"[41] मालती की मनःस्थिति का यह मार्मिक अंकन जो नायक के मन में हो रहा है, सीधे पाठक के भीतर संक्रमित हो आता है। यह कहानी अपनी वैयक्तिक निर्वैयक्तिकता में बेजोड़ है। लगता है लेखक का नितान्त वैयक्तिक अनुभव-खण्ड बड़ी निर्ममता से अपने से पृथक् किया गया है।

इस कहानी में मालती की मनोदशा प्रत्येक पाठक को अपनी जकड़न में कस लेती है। तीन बजे से 11 बजे तक क्या कुछ नहीं घटित हो जाता? एक रद्दी अखबार के टुकड़े की एक-एक पंक्ति को पढ़ डालने की क्रिया में मालती का अवचेतन पूरी तरह निरावृत हो जाता है। 'गैंग्रीन' (रोज) में संवेदना की अभिव्यक्ति अद्भुत है। अभिव्यक्ति और संप्रेषण पूरे तौर पर तदाकार हो उठते हैं। जो कुछ अभिव्यक्त किया जाता है, पूरी तरह सम्प्रेषित हो उठता है। मालती की अनुभूति कैसे वैयक्तिक से सार्वजनिक हो जाती है, यह भी कहानी की एक बड़ी शक्ति है। ऐसी मालतियाँ हमारे समाज में न जाने कितनी सूखती और निष्प्राण होती रहती हैं।

भारत-विभाजन के सन्दर्भ में लिखी कहानियाँ भी अनूठी हैं। एक कहानी 'शरणदाता' की चर्चा समीचीन होगी। 'क्षमा' और 'विपथगा' की भाँति 'शरणदाता' भी असाधारण मनुष्यता की कहानी है। असाधारण इसलिए कि एक क्रूर अमानवीय परिवेश में एक अकेला व्यक्ति अपने ही घर में शरण पाये हुए तथा कथित विधर्मी काफिर की जान बचाता है। हिन्दू-मुस्लिम दंगों का परिवेश है। एक हिन्दू अपने मुसलमान पड़ोसी के घर में शरण पाये हुए है। सारा परिवेश उन्मादग्रस्त है। जिस घर में उसे शरण मिली है, उसमें भी षड्यंत्र चल रहा है कि इसे रोटी में ज़हर दे दिया जाये और किस्सा खत्म हो। इसी मुस्लिम परिवार में एक लड़की है जेबू। वही रोटी लेकर जाती है। परन्तु उसी में एक चिट्ठी है जिसमें यह सूचना भी है कि रोटी ज़हरीली है। 'शरण दाता' की रोटी में लिपटी हुई चिट्ठी जेबू के मानवत्व की झाँकी प्रस्तुत करती है। वह चिट्ठी सिर्फ देविन्दर

लाल के प्राणों की रक्षा नहीं करती, वरन् पूरे साम्प्रदायिक परिवेश में मानवीयता की एक तीव्र प्रकाश किरण-सी बन जाती है। 'मानवत्व' की जिस खोज की बात अज्ञेय करते हैं, जिस अर्थवत्ता की खोज उनकी कहानियों का लक्ष्य है, वह जेबू जैसे पात्रों के माध्यम से ही निष्पन्न हो सकती है। अज्ञेय की यह खोज पुराने उद्‌बोधन मूलक, आदर्शवादी ढर्रे से सर्वथा भिन्न है। मानवीय अनुभूति ही उस पूरे प्रसंग में घुलकर अर्थवती परिणति तक पाठक को पहुँचाती है। वह अनुभूति ही लेखक, चरित्र और पाठक को तदात्म करती है। वही एक आन्तरिक सत्य बन कर उद्‌भासित होती है।

अज्ञेय की अधिकांश कहानियों में ऐसे असाधारण और विशिष्ट चरित्रों का सृजन किया गया है जो अपनी असाधारणता के बावजूद हमारी चेतना पर गहरी लकीरें खीचते हैं। ऐसी ही एक कहानी है 'जयदोल'। अज्ञेय फ़ौजी जीवन के दौर में उत्तर-पूर्वी सीमान्त में अधिक समय तक रहे। वहाँ के इतिहास, संस्कृति और किबदन्तियों से उनका गहरा परिचय हुआ था। उसी अनुभव में से 'जयदोल' की रचना होती है। 'जयदोल' का एक विशिष्ट चरित्र है-'जयमती'। जयमती एक शिखर चरित्र है। अज्ञेय के शब्दों में, ''वह तो-वह तो उस पाँच लाख बेबस देखने वालों के सामने एक लकड़ी के मंच पर खड़ी है, अपनी ही अपनी अस्पृश्य लज्जा में, अभेद्य मौन में, अटूट संकल्प और दुर्दमनीय श्रद्धा में लिपटी हुई, सात दिन की भूखी-प्यासी, घास और रक्त के कीच से लथ-पथ, लेकिन शेष नाग के माथे में ठुकी हुई कील की भाँति अडिग, आकाश को छूने वाली प्रातः शिखा-सी निष्कम्प''।[42] जयमती अपनी शारीरिक यातना के चरम क्षणों में भी अपनी आस्था एवं विश्वास से रंच मात्र भी विचलित नहीं होती। जब उसका पति बदले हुए वेष में उसके समक्ष विद्युन्निपात-सा उपस्थित होता है और उसे समझाता है कि वह क्यों व्यर्थ में इतनी पीड़ा झेल रही है तो पार्वती की भांति जयमती का चरित्र विद्युत की चमक और फौलाद की दृढ़ता के साथ चमत्कृत हो आता है। ''रानी की आँखो में कुछ घना हो आया। बड़े कष्ट से उसने कहा, 'नीच'। परन्तु नंगा वेषधारी कुमार जब कुमार की रक्षा का अकाट्य तर्क देते हुए जयमती से कुमार का पता बतलाने का आग्रह करता है तो जयमती कहती है, ''कुमार सुरक्षित है और कुमार की यह लाख-लाख प्रजा जो उनके लिए आँखे बिछाये है- एक नेता

के लिए, जिसके पीछे आततायी का राज्य उलट दे-जो एक आदर्श माँगती है-मैं उसकी आशा तोड़ दूँ-उसे हरा दूँ -कुमार को हरा दूँ।"[43] जयमती के चरित्र में केवल चारित्रिक दृढ़ता ही नहीं है, एक लोक-दृष्टि भी है, जो पूरी कहानी को एक नया आयाम देती है। आस्था का यह अटूट स्वर अज्ञेय की कहानियों का मूल स्वर है।

अज्ञेय ने ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी हैं। 'नारंगियाँ', 'सिग्नेलर', 'मेजर की वापसी' और अन्य अनेक जो अपनी, आस्था, अर्थवत्ता और मानवीय संवेदना के लिए स्मरणीय हैं। अज्ञेय ने अपने परवर्त्ती जीवन में कहानी लिखना छोड़ दिया। वे अन्तर्मुखी होते चले गये। कविता ही उनकी रचना-यात्रा की अन्तिम सहचरी बनी रही। परन्तु अज्ञेय की कहानियाँ स्मरणीय हैं और मनुष्यता की खोज में एक अर्थवती भूमिका रखती है

संदर्भ सूचि

[1] संस्कृति-चेतना, केन्द्र और परिधि-अज्ञेय, पृष्ठ-289
[2] संस्कृति-चेतना, केन्द्र और परिधि-अज्ञेय, पृष्ठ-290
[3] वही, पृष्ठ-290
[4] संस्कृति की चेतना, केन्द्र और परिधि-अज्ञेय, पृष्ठ-292
[5] संस्कृति की चेतना, केन्द्र और परिधि-अज्ञेय, पृष्ठ-294
[6] वही, पृष्ठ-293
[7] भारतीय संस्कृति और विश्व-संस्कृति, केन्द्र और परिधि, पृष्ठ-308
[8] भारतीय संस्कृति और विश्व-संस्कृति, केन्द्र और परिधि-अज्ञेय, पृष्ठ-309
[9] 'पक्ष-धर', कितनी नावों में कितनी बार-अज्ञेय, पृष्ठ-31
[10] भुमिका-'शेखर : एक जीवनी', पृष्ठ-81
[11] वही, पृष्ठ-81
[12] शेखर : एक जीवनी, (प्रथम भाग), पृष्ठ-16
[13] शेखर : एक जीवनी, (दूसरा भाग), पृष्ठ-58
[14] शेखर : एक जीवनी, (दूसरा भाग), पृष्ठ-77
[15] शेखर : एक जीवनी, (दूसरा भाग), पृष्ठ-169
[16] वही
[17] वही (प्रथम भाग), पृष्ठ-8
[18] शेखर : एक जीवनी, (दूसरा भाग), पृष्ठ-95
[19] शेखर : एक जीवनी, एक मूल्यांकन-रमेश चन्द्र शाह, पृष्ठ-49
[20] वही, प्रवेश, प्रथम भाग
[21] शेखर : एक जीवनी, भाग-दो, पृष्ठ-249
[22] 'आत्मनेपद' अज्ञेय, पृष्ठ-75

[23] वही, पृष्ठ-77
[24] नदी के द्वीप, पृष्ठ-214
[25] अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ-71
[26] अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ-71
[27] अज्ञेय सृजन और संघर्षः रामकमलराय, पृष्ठ-129
[28] आत्मनेपद-अज्ञेय, पृष्ठ-89-90
[29] आत्मनेपद-अज्ञेय, पृष्ठ-86-87
[30] नदी के द्वीप, पृष्ठ-164
[31] जो न लिख सका, आत्मने पद-अज्ञेय पृष्ठ-241
[32] अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ-84
[33] अपने-अपने अजनबी-अज्ञेय, पृष्ठ-40
[34] अपने-अपने अजनबी-अज्ञेय, पृष्ठ-67-68
[35] अपने-अपने अजनबी-अज्ञेय, पृष्ठ-72
[36] आत्मनेपद-रेखा की भूमिका, पृष्ठ-87
[37] भूमिका, 'छोड़ा हुआ रास्ता'-अज्ञेय, पृष्ठ-7
[38] भूमिका, 'छोड़ा हुआ रास्ता'-अज्ञेय, पृष्ठ-11-12
[39] गृहत्याग छोड़ा हुआ रास्ता-अज्ञेय, पृष्ठ-382
[40] वही, पृष्ठ-393
[41] 'गैंग्रीन' (रोज़) अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ-छोड़ा हुआ रास्ता, पृष्ठ-280
[42] जय दोल, अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ (लौटती पगडंडिया), पृष्ठ-285
[43] 'जयदोल'-अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ (लौटती पगडंडिया), पृष्ठ-288

परिशिष्ट-1

असाध्य वीणाः
सृजन का रहस्य

अज्ञेय का पूरा काव्य-संसार मनुष्य के चरित्र की उदात्तता को प्रतिभासित करता है। कहीं उसमें एक विराट् मानवीय संवदेना एवं करूणा का भाव झलकता है, कहीं वह मनुष्य के एकाकी संकल्प को चरितार्थ करता हुए नज़र आता है। कहीं उसमें मनुष्य की स्वाधीन चेतना का उन्मेष दिखता है, कहीं एक निर्व्याज आत्म-विसर्जन का स्वर फूटता है। व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता को प्रतिष्ठित करने का आग्रह रखने वाला कवि अन्ततः व्यक्ति को समवाय में ही विसर्जित नहीं करता प्रत्युत उसकी सम्पूर्ण इयत्ता को उस परम तत्त्व में विलीन कर देता है।

'असाध्य वीणा' सृजन के उस आयाम का आख्यान करती है जहाँ रचनाकार अपने को उस परम स्रष्टा का माध्यम मान लेता है, जो सारी व्यक्त सत्ता का मूल है। 'असाध्य वीणा' का कथ्य कहाँ से उठाया गया, इसकी खोज ज़रूरी नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वीणा क्यों असाध्य थी और अन्ततः कैसे सधी और किसके हाथों सधी। 'असाध्य वीणा' जिस राज दरबारमं पड़ी थी, उसका भी उतना महत्त्व नहीं। महत्त्व है उस वीणा की निर्मिति का। कवि कहता है कि वह वीणा वज्रकीर्ति द्वारा मंत्रपूत प्राचीन किरीटी तरू से गढ़ी गई थी। जिस किरीटी तरू के कानों में हिम शिखर अपने रहस्य कहा करते थे। जिसके कन्धों पर बादल सोते थे, उसकी डालें करि शुन्डों सदृश थी, जो वन-यूथों का हिम-वर्षा से परित्राण करता रहता था, जिसके कोटर में भालू बसते थे, जिसके वल्कल से केहरि अपने

कन्धा खुजलाते थे, जिसकी जड़ें पाताल लोक तक पहुँची हुई थी, जिसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से अपना फन टिकाकर नागवासुकि सोता था। उस किरीटी तरू से वज्रकीर्ति ने उस वीणा को अपने सम्पूर्ण जीन की साधना झोंक कर गढ़ा था। वज्रकीर्ति ऐसा हठी साधक था, जिसने अपने सम्पूर्ण जीवन की साधना से उस वीणा का निर्माण किया था। उस वीणा के निर्माण की प्रक्रिया में ही उस साध ाक का जीवन समाप्त हो गया। इधर वीणा का निर्माण पूरा हुआ और उधर निर्माता की जीवन लीला समाप्त हो गयी। रह गयी वीणा, जो असाध्य बन गई। कोई कलाकार उस वीणा के तारों को झंकृत नहीं कर पाता था। राजदरबार में रक्खी वह वीणा अनेक कलाकारों के समक्ष प्रस्तुत की गई, परन्तु कोई भी कलाकार उसे झंकृत नहीं कर सका। वीणा का नाम ही असाध्य वीणा ख्यात हो गया।

उसी राजदरबार में एक दिन अजित केशकम्बली पहुँचता है। अजित केशकम्बली का कोई परिचय कवि नहीं प्रस्तुत करता, सिवाय इसके कि राजा ने उसे सम्मान से दरबार में आसीन किया। स्वयं खड़ा हो गया और केश कम्बली को प्रियंवद, केशकम्बली, गुफागेह जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित करता हुआ 'असाध्य वीणा' की असाध्यता का आख्यान करने लगा। वह कहता है :-

''यह वीणा उत्तराखण्ड के गिरि प्रान्त से लाई गई है, जहाँ घने वनों में ब्रह्मचारी तपस्या करते हैं और जिसे वज्रकीर्ति ने मंत्रपूत किरीटी तरू से गढ़ा है।'' किरीटी तरू की विशेषताओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। राजा उस कलाकार से निवेदन करता है कि इस वीणा को एक से एक कलाकारों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है, परन्तु कोई भी कलावन्त इसे साध नहीं सका। राजा का विश्वास है कि यह वीणा सधेगी अवश्य, जब उसे कोई सच्चा स्वर-सिद्ध अपनी गोद में लेगा। राजा इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि वज्र कीर्ति का कृच्छतप व्यर्थ चला जायेगा और इसके बाद प्रारम्भ होती है, वह प्रक्रिया जिसकी परिणति में वह असाध्य वीणा झंकृत हो उठती है।

अजित केशकम्बली अपने ऊपर लपेटे हुए कम्बल को खोलता है। उसे धरती पर बिछाता है और वीणा को उठा कर उस पर रख देता है। अपनी पलकें मूँद लेता है। प्राणों को खींच लेता है और उस वीणा को प्रणाम करते हुए उसके तारों

को छूता है। कवि कहता है कि उसकी वह छुवन अस्पर्श छुवन थी। कैसी थी वह छुवन जो छूती भी थी और अस्पर्श भी थी। केश कम्बली राजा से कहता है :-

''महाराज मैं तो कलावन्त नहीं हूँ, मात्र एक शिष्य हूँ। जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी मात्र हूँ। कहाँ मेरा तुच्छ व्यक्तित्व और कहाँ वज्र कीर्ति। प्राचीन किरीटी तरू! यह अभिमंत्रित वीणा! मैं तो इसके ध्यान मात्र से गद्‌गद और विह्‌वल हो उठता हूँ।

यह कह कर वह प्रियंवद मौन हो जता है पूरी सभा मौन हो जाती है।

कुछ देर चुप रहकर वह साधक वीणा को अपनी गोद में रख लेता है। फिर अपना माथा उसके तारों पर टेक देता है। पूरी सभा विस्मय-विभोर है कि क्या हो रहा है। कहीं यह साधक भी तो हार मान कर आत्म समर्पण नहीं कर रहा है। क्या वीणा सचमुच असाध्य ही है?

परन्तु नहीं, वह साधक अपने उस गहन मौन में उस वीणा को साध रहा था। उस साधना में वह सचमुच अपने को ही शोध रहा था। उस सघन निविड़ में वह अपने को उस किरीटी तरू को सौंप रहा था, जिससे उस वीणा को निर्मित किया गया था। उसे स्पष्ट आभासित हो रहा था कि कोई भी बड़ा साधक दम्भ करके उस अभिमंत्रित कारूवाद्य (वीणा) के सम्मुख नहीं आ सकता। जो वीणा किसी महान् शिल्पी की जीवन भर की साधना रही है, उसे कौन बजाने का साहस करे। लगता था वह केश कम्बली अपने समक्ष बैठी राज सभा को पूरे तौर पर भूल चुका है। लगता था उस बिछे हुए कम्बल पर एक अभिमंत्रित अकेलापन है, जिसमें वह साधक पूर्ण रूप से डूब गया है। लगता था उस केश कम्बली साधक के समक्ष वह किरीटी तरू जीवित होकर खड़ा है, जिसकी जड़ें नागवासुकि के फण पर आधारित हैं, जिसके कन्धों पर बादल सोते हैं। और जिसके कानों में हिमगिरि अपने रहस्य कहते थे। लगता था कि वह साधक अपने समक्ष अवतरित किरीटी तरू को संबोधित करता हुआ नीरव एकालाप कर रहा है। साधक का वह एकालाप कितना सर्वस्पर्शी है। उसने स्वयं को सम्पूर्ण रूप से उस विशाल किरीटी तरू के समक्ष विसर्जित कर दिया है। आत्म-विसर्जन का यह आख्यान अभूतपूर्व है। वह कहता है :-

''ओ विशाल तरू, तुम्हारे रूप को शत सहस्र पल्लवन और पतझरों ने संवारा है। कितनी बरसातों और कितने खद्योतों ने तुम्हारी आरती उतारी है। दिन में भौंरे गुँजार करते रहे, रातों में झिल्ली ने मंगल गान सुनाये। साँझ-सवेरे अनगिनत अनचीन्हे-अनपहचाने खग-कुलों के अपनी मोद भरी क्रीड़ा काकलि से तुम्हारी डाली-डाली को कँपाया। तुम इस पूरे झारखण्ड के अग्रज हो, तात हो, सखा हो, गुरू हो, आश्रय हो महच्छाय त्राता हो। तुम व्याकुल वन-ध्वनियों के वृन्दगान के मूर्त रूप हो। ओ विशाल तरू, मैं तुझे सुनूँ, तुम्हे देखूँ और तुम्हारा ध्यान करूँ-अनिमेष, स्तब्ध, संयत, संयुत, निर्वाक्। मुझ में इतना साहस कहाँ कि मैं तुझे छू सकूँ!

ओ विशाल तरू, तेरी काया को छेद कर बेधकर रची गयी वीणा को मेरे हाथ कैसे आघात करें! जिस संगीत को रचने में कितनों के स्पन्दित प्राण रच गये, उन्हे मैं कैसे छेड़ने का साहस करूँ।

ओ विशाल तरू, यह वीणा तो मेरी गोद में रक्खी है परन्तु मैं तो तेरी गोद में मोद भरे बालक की भांति बैठा हूँ। तू मुझें संभाल। तुम्हारी पुलक में मेरी किलक डूब जाये। मैं तेरे अनुभव का एक-एक अन्तः स्वर सुनूँ, गूनुँ और विस्मय से भर कर आँकूँ। तुम्हारे झूले की लोरी में तन्मय होकर झूमूँ। तू होगा। तेरी लय पर मेरी साँस भरे, पुरें, रीतें और विश्रान्ति पायें।

ओ विशाल तरू, तू ही गा। यह वीणा तो तेरा अंग है। अंगी तो तू ही है। अक्षत्, आत्म-भरित, रस-विद, अंगी। तू गा और मेरे अंधियारे अन्तस् में आलोक जगा। स्मृति का आलोक। श्रुति का आलोक। तू गा, तू गा, तू गा।

वीणा से इस निवेदन के पश्चात् केशकम्बली अपनी स्मृतियों में अवगाहन करता है। उसके स्मृति-चित्रों में सम्पूर्ण प्रकृति के विविध बिम्ब उभरते हैं। लगता है, उसके व्यतिक्तत्व में सम्पूर्ण प्रकृति आत्मसात् है। उसे बदली, और बदली में कौंधती विद्युल्लता का स्मरण हो आता है, पत्तियों पर वर्षा की बूँदों की टप-टप याद आती है। घनी रात में महके फूलों का चुपचाप टपकना याद आता है। किसी चौंकते हुए खग-शावक की चिहुँक याद आती है। वन-झरनों के लहरीले जल द्वारा शिलाओं का दुलराना याद आता है। किसी पर्वतीय गाँव के उत्सव में बजते हुए ढोलक की थाप कुहरे से छनकर उसके कानों में गूँजती है। किसी गड़ेरिये की

अनमनी बाँसुरी का स्वर, किसी कठफोड़े का ठेका, किसी फुल सुघनी की आतुर फुरकन ये सब उसके स्मृति-पटल पर अंकित हो उठते हैं। हरसिंगार के फूलों जैसे ओस की बूँदों का टपकना। शरद ऋतुओं के तालों की लहरों की सरसराहट, कूँजों का क्रेंकार, टिट्टिभ की लम्बी काँद, पंख युक्त सायक की भाँति उड़ती हंस बलाकायें, सब उसकी चेतना में कौंधते हैं। चीड़ों के वनों में गन्ध से अन्धें उन्मद पतंगों की आपसी टकराहटें, जल प्रपात के झरते हुए जल की एक स्वरता उसकी स्मृति में कौध आती है। झिल्लियों और दादुरों, कोकिलों और चातकों की झनकारों और पुकारों की यति में संसृति की साँय-साँय सुनाई देने लगती है।

वह केशकम्बली अपनी स्मरण की यात्रा में अनथक आगे बढ़ता है। सुदूर पहाड़ों से काले-काले मेघों की बाढ़ मानो हथियों के यूथ की चिंघाड़ की भाँति उसकी स्मृति में उभर आती है। चढ़ती हुई बहिया की घरघराहट, किसी रेतीले कगार का छप-छड़ाप की आवाज़ करते हुए टूटना, झंझावात की तप्त फुफकार, पेड़ों का अरराकर टूट कर गिरना उसे याद आते हैं। कभी ओलों की करीं चपत, कभी सुखी घासों, पाले के प्रकोप से तनी कटारी टूटती-सी उसकी स्मृति में कौंधती है। कभी ऐंठी हुई मिट्टी का स्निग्ध घाम में धीरे-धीरे रिसना उसे याद आता है। उसे याद आते हैं हिमतुषार के फाहे जो धरती के घावों को चुपचाप सहलाते हैं। कभी गिरती हुई चट्टानों की गूँज घाटियों में भरती हुई याद आती हैं, कभी चिचियाहट। जलपरियों का कमल और कुमुद के पत्तों पर चोर पैरों से चलने की चाप कभी उन मन्द गूँजों की अनुगूँज खोयी हुई नीरव सांस सी स्मृति में कौंधती है।

केशकम्बली की स्मृति-यात्रा आगे बढ़ती है। हरी तलहटी में छोटे पेड़ों की आड़ में ताल के किनारे निश्चित समय पर वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तृप्त पुकारें उसे याद आती हैं। नाना प्रकार की आवाज़े उसकी चेतना में गूँजती हैं-कभी गर्जन, कभी घुर्घुर, कभी चीख, कभी मूँक, कभी हुक्का, कभी चिचियाहट। जलपरियों का कमल और कुमुद के पत्तो पर चोर पैरों से चलने की चाप, कभी दादुर की चकित छलांगों की थाप उसकी चेतना में स्वरित होती हैं। कभी किसी घुड़सवार पन्थी के घोड़े की अधीर टाप और कभी अंचचल और धीर भैसों के भारी खुर की थाप उसकी स्मृति में ध्वनित में होती हैं। केशकम्बली अपने परिवेश

में डूबता ही जाता है। उसके स्मृति-पटल पर उसका परिवेश अंकित ही होता चला जाता है। कहीं पक्षी, कहीं पशु, कहीं प्रकृति के अन्य विविध उसकी चेतना में उभरते चलते हैं। उसकी स्मृति में ओस की बूँद की वह चौंकी हुई सिहरन, दुपहरी में घास-फूलों का अनदेखे ही खिल जाना, असंख्य झूमती हुई मौमाखियों का गुँजार और इन सबके बीच एक लम्बे विलमे क्षण का ठहाराव उभर आता है। तारों की तरल कम्पन का स्पर्शहीन झरना, उनको देखकर ऐसा लगता है, मानों सवत्सा युवती माताओं का आर्शीवाद उनके तरल नयनों से झर रहा हो। उस काल-संन्धि के क्षण की लीयमान पुलकन उसे घेर लेती है।

केशकम्बली की स्मृति-यात्रा चलती ही जाती है। और प्रत्येक चित्र उसे स्तब्ध और विज़ित करता है। उसे लगता है कि प्रत्येक स्मृति के स्वर का कम्पन उसे उससे ही सोख लेता है। उसे लगता है वह नाद भरे वायु-सा उड़ता जा रहा है। वह इस स्मृति-लोक में विचरण करता हुआ स्वयं को भूल गया है। वह सुनता तो है पर स्वयं से परे शब्द में लीयमान अनुभव करता है।

वह बोल उठता है ''मैं नहीं हूँ, मैं कहीं नहीं हूँ। ओ तरू! ओ वन! ओ स्वर सम्भार नादमय संस्कृति, ओ रस-प्लावन! मुझे क्षमा करो, मेरी अंकिचना को भूलकर मुझे ओट दे, ढँक ले, छा ले।

ओ शरण्य! तेरे सोये स्वर-सागर का ज्वार मेरे गूँगेपन को डुबा ले! वह उस नादमय संसृति से प्रार्थना करता है-

तू मुझे भूल जा। इस वीणा के तारों में तू उतर जा। तू अपने से गा। तू अपने को गा। केश कम्बली पुनः उस स्वर सम्भार को ओर संकेत करता है जो प्रकृति में व्याप्त है।

वह कहता है तू अपने खग-कुल को मुखरित करो। अपनी छाया में पले मूगों की चौकड़ियों को तालबद्ध कर। अपने छायातप को, वृष्टि और पवन को, पल्लवन और कुसुमन की लय पर अपने जीवन-संचय को छन्द मुक्त कर अपनी प्रज्ञा को वाणी दे। वह कहता है :-

''तू गा, तू सन्निधि पा, तू खो, तू आ-तू हो- गा।'' इतना निवेदन करने के पश्चात् संगीतकार की उगलियाँ काँपने लगीं। वीणा के तारों पर थिरकने लगीं और लगता था वीणा अलस अंगड़ाई लेकर जाग उठी हो। स्वरों के शिशु किलक उठे

थे। लगता था नीरव पांवो से जालिक मायावी सधे हुए करों से धीर-धीरे स्वर्णिम तारों का जाल डाल रहा हो और सहसा वीणा झनझना उठी। संगीतकार की आँखों में एक पिघली ठण्डी ज्वाला-सी झलक गयी। सम्पूर्ण सभाजनों के तन में एक बिजली-सा रोमांच दौड़ गया। वीणा के माध्यम से वह स्वयम्भू संगीत अवतरित हुआ, जिसमें अशेष प्रभामय ब्रह्मा का अखण्ड मौन सोता है।

उस अलौकिक संगीत में सब एक साथ डूब गये। डूबे तो सब एक साथ, परन्तु पार तिरे सब अलग-अलग, एकाकी। राजा को लगा यशःकाय जयदेवी स्वयं वरमाला लिये मंगल गीत गाती हुई खड़ी हैं। दुन्दुभी कहीं बहुत दूर बजती सुनाई दी। उसे लगा उसका राजमुकुट सहसा सिरिस के फूल जैसा हल्का हो आया है। ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा, द्वेष, चाटुता जैसे विकार उसके व्यक्तित्व से पुराने लुगड़े जैसे झर गये। जीवन कांचन तप कर निखर आया था, जिसे वह धर्म भाव से निछावर कर देगा।

रानी अलग ही कृतकृत्य हो गयी। जैसे छँटती हुई बदली में एक कौध रानी की चेतना को आलोकित करते हुए कह गयी ये तुम्हारे मणि-माणिक, कंठहार, पट-वस्त्र, मेखला-किंकिणि सब अन्धकार के कण हैं। आलोक तो बस एक है, अनन्य प्यार।

उसी प्यार की विद्युल्लता उसकी छाती पर थिरक कर पुनः आश्वस्त और सहज, विश्वास भरी उसी में छिप कर सो जाती है। रानी को प्रतिभासित हो जाता है कि वह आगे केवल उसी प्यार की साधना करेगी।

सभा में उपस्थित सब ने उस संगीत को अपने-अपने सत्य के साथ झंकृत होते हुए सुना।

किसी को वह संगीत अपने प्रभुओं का कृपा वाक्य लगा। किसी को अति मुक्ति का आश्वासन लगा। किसी को भरी तिजोरी में सोने की खनक लगी। किसी भूखे को लगा कि यह संगीत उसकी बटुली में बहुत दिनों बाद अन्न की सोंधी खुशबू भर गया। किसी प्रियतम को अपनी नयी बधू की सहमी-सी पायल-ध्वनि सुनाई पड़ी। किसी अन्य को अपने शिशु की किलकारी। किसी शिकारी को वह संगीत उसके जाल मे फँसी मछली की तड़पन जैसी सुनाई पड़ी। किसी दूसरे को मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की चहक प्रतीत हुई। किसी व्यवसायी मन को वह संगीत

मंडी की ठेलमठेल हैसी लगी। किसी को स्पर्द्धा से भरी बोलियाँ प्रतीत हुई। किसी पुजारी मन को लगा कि यह संगीत मन्दिर के घंटे की तालयुक्त ध्वनि है। किसी श्रमिक को लगा कि यह संगीत लोहे में पर सधे हुए घन की सम चोटें हैं। किसी माझी मन को लगा कि यह संगीत लंगर पर कसमसाती नौका के ऊपर लहरों की अविराम थपक है। किसी को लगा यह बटिया पर चमरौंधों की सधी हुई चाप है। किसी किसान मन को लगा कि यह कुलिया की कटी हुई मेंड़ से बहते हुए जल की छुलछुल है। किसी नट को लगा कि नटी की एड़ी की घुँघरू की गमक है। किसी युयुत्स को यह युद्ध को ढोल-सा लगा। किसी दूसरे को लगा कि यह संझा-गोधूली की हल्की सी टुनटुन है। किसी को यह प्रलय का डमरू नाद सरीखा लगा। किसी को यह जीवन की पहली अंगडाई जैसा प्रतीत हुआ। किसी दूसरे को यह महा जृम्भ विकराल काल सरीखा। सम्पूर्ण सभा जन उस संगीत में डूबे, तिरे, झिपे और जागे। वशंवद और स्तब्ध हो गये। सब की इयत्ता अलग-अलग जागी, संधीत हुई और विलीन हो गई।

वीणा फिर मूक हो गई। सारी सभा साधु-साधु कह उठी। राजा अपने सिंहासन से उतरे। रानी ने अपना सात लड़ियों वाला माला अर्पित कर दिया और कहने लगी 'हे स्वरजित् आप धन्य हैं।'

संगीतकार ने वीणा के अपनी गोद से धीरे से उतार कर नीचे रख दिया और उसे इस प्रकार देखने लगा जैसे माँ अपने शिशु को पालने में डाल कर मुग्ध दृष्टि से देखती है। और फिर अपनी दीठ से दुलराता हुआ वह अलग हट जाता है। अजित केशकम्बली राजा के उठे हुए हाथ को आवर्जित करता हुआ कहता है।

''इस वीणा को साधने में मेरा श्रेय कुछ भी नहीं है। मैं तो स्वयं शून्य में डूब गया था। वीणा के माध्यम से मैं स्वयम् को सब कुछ को सौंप दिया था। हे सभाजन्, हे राजन्, हे रानी अपने जो कुछ सुना वह मेरा नहीं था। वह तो सब कुछ की तथता थी। वह तो वह महाशून्य था, वह महामौन था जो अविभाज्य है, अनाप्त है, अद्रवित और अप्रमेय है। जो शब्द हीन है, परन्तु वही सब में गाता है।''

इतना कह कर वह प्रियंवद केशकम्बली अपना कम्बल उठा कर गुहागेह में चला गया। सभा विसर्जित हो गयी।

'असाध्य वीणा' की यह अन्तर्वस्तु अनेक व्यंजनों और निहितार्थों से भरी है।

'असाध्य वीणा' वास्तव में सृजन के रहस्य को खोलने वाली कविता है। जब तक व्यक्ति में सर्जक होने का दम्भ है, सृजन उससे दूर रहेगा। सर्जक जब सम्पूर्ण रूप से अपने आपको विसर्जित कर देता है, जब सम्पूर्ण परिवेश और सम्पूर्ण प्रकृति में वह लीयमान हो जाता है, जब सम्पूर्ण परिवेश और प्रकृति उसके व्यक्तित्व मे लय हो जाती हैं, तभी उसके भीतर का स्रष्टा जागृत होता है। जब वह अच्छी प्रकार इस सत्य को आत्मसात कर लेता है कि सृजन वह नहीं कर रहा है, सृजन उसके माध्यम से हो रहा है, स्रष्टा वह नहीं, वह पराशक्ति है जो कण-कण में व्याप्त है, जो अविभाज्य, अनाप्त और अद्रवित, महामौन है तभी वह सच्चा सर्जक हो पाता है। कोई भी कला, संगीत, काव्य या अन्य अन्ततः उसी साधक की बनती है जो अपने आप को उस विराट् शक्ति को सौंप देता है जिसकी गूँज-अनुगूँज सर्वत्र है।

'असाध्य वीणा' का साधक अजित केशकम्बली एक प्रतीत मात्र है। वज्र-कीर्ति और किरीटी तरू भी प्रतीक ही हैं। वीणा भी प्रतीक है। महत्त्वपूर्ण है वह प्रक्रिया और परिणति, जो वीणा के सधने में निष्पन्न होती है।

सर्जक या कलाकार जिस परिवेश में रहता है, उसकी एक-एक धड़कन, उसकी एक-एक सच्चाइयाँ पूरी जीवन्तता के साथ उसके व्यक्तित्व में रमनी चाहिए। अपने परिवेश को जिस प्रकार और जितना वह आत्मसात् कर पाता है उतना की उसकी कला स्फुरित हो पाती है। उसके परिवेश में प्रकृति, मनुष्य, जीव, वनस्पतियाँ सभी का उतना ही महत्त्व है। पक्षियों का कलरव, कूजों का क्रेंकार, खग-शावक की चिहुँक, महुवे का टपकना, गड़रिये की बाँसुरी। वह सब जो ऊपर वर्णित है उस कलाकार की चेतना को निर्मित करती है। सम्पूर्ण प्रकृति की हलचल, जीवन्तता उसे क्रियमाण बनाती है। भोर की पहली किरण का ओस की बूंदो को छेड़ना, तारों की कपकपी सब कुछ उसे स्पन्दित करते हैं। जब इस प्रकार प्रकृति उसकी चेतना का अविभाज्य अंग बन जाती है, उसकी कला, उसका सृजन स्वयमेव स्फुरित होता है। मनुष्य के नाना रूप, नाना कार्य व्यापार उसे संवेदित करते हैं। समाज के प्रत्येक पक्ष को वह अपने से अविच्छिन्न रूप से जोड़ता है। श्रमिक, कलाकार, चिन्तक, कवि, किसान सभी उसके प्राणों के तार को झनझनाते

हैं। चराचर प्रकृति और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन उसकी धमनियों में बहने लगते हैं। इस व्यापक भूमि पर वह अपना निजत्व खो देता है। वह सब कुछ को अपना होना सौंप देता है। आत्मविसर्जन के इस चरम अनुभव के क्षण में उसकी कला फूटती है। वीणा स्वयं बज उठती है। कलाकार की उंगलियाँ उसे छूती भर हैं। किसी भी कला का स्वतः स्फूर्त यह प्रस्फुटन कला-साधना का एक नया दर्शन प्रस्तुत करता है।

अजित केशकम्बली के हाथों जब वह असाध्य वीणा झनझना उठती है तो उसके प्रमाण का भी कवि ने अत्यन्त मार्मिक और जीवन्त आख्यान किया है :-

डूब गये सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे

कलासिद्धि का एक समवायगत प्रभाव पड़ता है। सभी उसमें डूबते हैं। परन्तु प्रत्येक को लगता है उसने अपनी सिद्धि पा ली है और वह भी उस रूप में जैसा तुलसी दास ने लिखा है-''जाकी रही भावना जैसी-हरिमूरति देखी तिन तैसी।'' राजा को अपने राजचिह्न निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं, रानी के लिए सारे मणि-माणिक अर्थहीन हो जाते हैं। मात्र प्यार का आलोक ही उसके भीतर व्याप्त हो जाता है। और सभी सभाजनों को अलग-अलग प्रकार की अपने निजी अनुभवों से जुड़ी अनुभूतियाँ होती हैं। सभी एक चरम आनन्दानुभूति से गुजरते हैं। कला सिद्धि का यह व्यापक और विशिष्ट प्रभाव स्वयं सिद्ध है।

किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है कलाकार की अन्तिम अभिव्यक्ति :-

'श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था
स्वयं शून्य में-
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था-
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी

महा शून्य,
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।

साधक की यह चरम अनुभूति, जहाँ उसका स्व पूर्णतया विसर्जित हो चुका है, जहाँ वह अपने भीतर उस महाशून्य को शब्द हीन रूप से गाते हुए सुनता है, यही वह चरम भूमि है जहाँ सृजन अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त करता है।

अज्ञेय के काव्य विकास की यह चरम भूमि है। अपने प्रारम्भ की कविताओं में अज्ञेय ने अपने 'स्व' पर बहुत अधिक बल दिया है। अंह का स्वर भी काफी प्रबल है। दूसरे चरण में कवि ने व्यक्ति एवं समष्टि के परस्परावलम्बन एवं उनके बीच अविभाज्यता पर जोर दिया है। फिर कवि व्यष्टि के विसर्जन की भूमि पर आता है। 'असाध्य वीणा' इसी व्यष्टि-विसर्जन की चरम भूमि पर लिखी गई कविता है। सृजन अपने उदात्त रूप में इसी भूमि पर अवतरित होता है। जब रचनाकार में सष्टा भाव विलीन हो जाता है, जब वह अपने आप को मात्र एक माध्यम मान लेता है, जिसके द्वारा कोई परम सत्ता अपने को अभिव्यक्त कर रही है, तभी उसकी रचना अपनी चरम सिद्धि को प्राप्त करती है।

परिशिष्ट–2

अज्ञेय द्वारा रचा गया साहित्य

कविता

1. चिन्ता
2. एकायन
3. इत्यलम्
4. पूर्वा
5. हरी घास पर क्षण भर
6. बावराअहेरी
7. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
8. अरीओ करूणा प्रभामय
9. आँगन के पार द्वार
10. सागर मुद्रा
11. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ
12. कितनी नावों में कितनी बार
13. पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ
14. महा वृक्ष के नीचे
15. ऐसा भी घर कोई देखा है
16. सुनहले शैवाल

17. सदानीरा-भाग-1
18. सदानीरा-भाग-2
19. नीलाम्बरी (चुनी हुई कविताओं का स्वयं द्वारा किया गया अंग्रेज़ी में अनुवाद)

उपन्यास

1.शेखर : एक जीवनी
2.नदी के द्वीप
3.अपने-अपने अजनबी
4.छाया मेखल (अपूर्ण)
5.वीनू-भगत (अपूर्ण)

कहानियाँ

1.कोठरी की बात
2.शरणार्थी
3.ये तेरे प्रतिरूप
4.परम्परा
5.अमर वल्लरी
6.विपथगा
7.जयदोल
8.अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-1 (छोड़ा हुआ रास्ता)
9.अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2
(लौटती पंगडंडियाँ)

संस्मरण

1.अरे यायावर, रहेगा याद
2.एक बूँद सहसा उछली
3.स्मृति-लेखा
4.स्मृति के गलियारों से

अन्तः क्रियायें

1. शाश्वती
2. भवन्ती
3. अन्तरा

निबन्ध संग्रह

1. स्रोत और सेतु
2. आलवाल
3. अद्यतन
4. जोगलिखी
5. युग सन्धियों पर
6. धार-किनारे
7. केन्द्र और परिधि
8. लिखि कागद कोरे
9. आत्मनेपद
10. सर्जना और सन्दर्भ

अन्य

1. संवत्सर (कालचिह्न)
2. सबरंग (व्यग्य-लेख)
3. उत्तर प्रियदर्शी (नाटक)
4. अपरोक्ष (साक्षात्कार)
5. अज्ञेय, अपने बारे में

सम्पादित

1. तार सप्तक
2. दूसरा सप्तक
3. तीसरा सप्तक

4. चौथा सप्तक
5. जय जनक जानकी (यात्रा संस्मरण)
6. समाज और साहित्य

परिशिष्ट-3

अज्ञेय पर लिखा साहित्य

1. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या-रामस्वरूप चतुर्वेदी
2. वागर्थका वैभवः अज्ञेय-रमेशचन्द्र शाह
3. शब्द पुरूषः अज्ञेय-नरेश मेहता
4. अज्ञेयः सृजन और संघर्ष-रामकमल राय
5. अज्ञेय के उपन्यास-चन्द्रकान्त बान्दिबेडेकर
6. अज्ञेय के उपन्यास-प्रो० गोपाल राय
7. अज्ञेय के उपन्यास-डा० अरविन्दाक्षन्
8. अज्ञेय सृजन की समग्रता-रामकमल राय,
9. शिखर से सागर तक (अज्ञेय की जीवनी)-रामकमल राय